

୨-୪୪-୬

୧୧୧



हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,६५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण २०२७, जुलाई १९७०

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१-रामायणके रचयिता, प्रधान पात्र और पाँच देवियाँ [कविता] ...	१९७	१४-प्रमाद-आलस्य छोड़कर स्वावलम्बी बनो [कविता] ...	१०२८
२-कल्याण ('शिव') ...	१९८	१५-वर्णाश्रमकी ऐतिहासिकता (डॉ० श्री-नीरजाकान्त चौधुरी, एम० ए०, पी०-एच्० डी०) ...	१०२९
३-ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश (पुराने सत्सङ्गते) ...	१९९	१६-जीविका जीवन (श्रीशिवनाथजी दुबे) ...	१०३२
४-आस्तिकताकी आधारशिलाएँ ...	१००१	१७-जगत् हरिका रूप है (श्रीहरिकिशन-दासजी अग्रवाल) ...	१०३३
५-सच्चे संत कौन हैं ? [कविता] ...	१००३	१८-हरिनाम सबसे सुगम साधन है (संकलित-संत तुकाराम) ...	१०३४
६-धर्म-प्रेरणाने की शक्ति (अनन्तश्री स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती) ...	१००४	१९-गोब्राह्मणहिताय (श्रीनिरञ्जनदासजी धीर) ...	१०३५
७-गोलोकवासी परम पूज्यपाद अनन्तश्री श्रीहरिवावाजी महाराजके महत्त्वपूर्ण सदुपदेश (प्रेषक—भक्त श्रीरामशरण-दासजी) ...	१००६	२०-भारतमें काल-गणना श्रीकृष्ण-संवत् से होनी चाहिये ...	१०३७
८-सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन ...	१००९	२१-घटमें त्रिवेणी (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त) ...	१०३८
९-रामचरितमानसमें नीति (श्रीजे० डी० शुक्ल, अध्यक्ष राजस्व-परिषद्, उत्तर प्रदेश) ...	१०१३	२२-परमार्थकी पगडंडियाँ ...	१०३९
१०-गौधी-जीवन-सूत्र (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ...	१०१९	२३-मांस मनुष्यका स्वाभाविक भोजन नहीं है ! ...	१०४३
११-महर्षि रमणकी आदर्श अपरिग्रही और अयाचक वृत्ति ...	१०२२	२४-हमारे स्वजन ये पशु ! (श्रीगेराल्ड कर्टलर, एम० ए०) ...	१०४६
१२-नील लोहित (श्रीसुदर्शनसिंहजी) ...	१०२३	२५-प्राणी-हत्याका अनिष्ट परिणाम [कविता] ...	१०४८
१३-मे बिचित्र फूल ! अद्भुत सादक गन्ध ! [पौराणिक कहानी] (डॉ० श्रीरामचरण-जी महेंद्र, एम० ए०, पी०-एच्० डी०) ...	१०२५	२६-गोपी-प्रेम-आदर्श भक्ति-दर्शन [कविता] (प्रो० श्रीवज्रगोपालदासजी अग्रवाल, एम० ए०) ...	१०४९
		२७-कामके पत्र ...	१०५०
		२८-पढ़ो, समझो और करो ...	१०५३
		२९-राजस्थानमें गीताप्रेस-सेवा-दलका सहायता-कार्य ...	१०५६

चित्र-सूची

१-भगवान् वाराहलक्ष्मण	(रेखाचित्र) ...	मुखपृष्ठ
२-रामायणके रचयिता, प्रधान पात्र और पाँच देवियाँ	(तिरंगा) ...	१९७

वार्षिक मूल्य भारतमें ९.०० { जय विराट जय जगन्पते । गौरीपति जय रमापते । } साधारण प्रति भारतमें ५० पैसे
विदेशमें १३.३५ (१५ मिलियन) { विदेशमें ८० पैसे (१० पैसे) }

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिन्मनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



म. कालीमूर्ति



रामायणके पाँच प्रधान पात्र और तीन रत्नयिता



भगवती पार्वती, सीता, माण्डवी, उर्मिला, श्रुतिकीर्ति



देवाधिदेव भगवन् कामपाल नमोऽस्तु ते । नमोऽनन्ताय शेषाय साक्षाद् रामाय ते नमः ॥
नमः श्रीकृष्णचन्द्राय परिपूर्णतमाय च । असंख्याण्डाधिपतये गोलोकपतये नमः ॥

वर्ष ४४

गोरखपुर, सौर श्रावण २०२७, जुलाई १९७०

संख्या ७

पूर्ण संख्या ५२४

रामायणके रचयिता, प्रधान पात्र और पाँच देवियाँ

जय श्रीराम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न जयति, जय कपि हनुमान ।
जय जानकी, माण्डवी, जय उर्मिला सती, श्रुतिकीर्ति महान ॥
जयति आदिकवि वाल्मीकि, जय शंकर, जय कवि तुलसीदास ।
रामायण-रचयिता धन्य, जय उमा कर रही बुद्धि-विकास ॥

जुलाई १—



कल्याण

याद रक्खो—मनुष्यके मनमें जैसे विषयोंका अधिक चिन्तन होता है, जैसे विचार अधिक आते हैं, वैसे ही उसके द्वारा कर्म बनते हैं और उसीके अनुरूप उसका जीवन बन जाता है। भगवत्सम्बन्धी, सर्वभूतहितकर, त्याग, संयम, वैराग्य, तत्त्वज्ञान आदि सात्त्विक विषयोंका चिन्तन तथा वैसे ही विचार अधिक आते हैं, तो वह भागवत, भक्त, प्राणिमात्रका हित-सम्पादक, त्यागी, इन्द्रिय तथा मनपर विजय प्राप्त करनेवाला, भोगोंसे विरक्त, ज्ञानी, साधु बन जाता है, उसका जीवन शान्त तथा सुखपूर्ण रहता है और उसका मानव-जीवन अपने परम ध्येय परमात्माको प्राप्तकर सफल तथा कृतार्थ हो जाता है। इसके विपरीत जो दिन-रात इन्द्रिय-भोग, सीमित स्वार्थ, वर्धनशील भोग-कामना, यथेच्छ आचरण, विषयासक्ति तथा अविवेकपूर्ण चिन्तन और विचार करता रहता है, वह जीवनभर अनन्त चिन्ता, अशान्ति, दुःख भोगता हुआ घोर विषयी, प्राणिमात्रका द्रोही, भोगोंका गुलाम, इन्द्रियों तथा मनका दास, अत्यन्त विषयासक्त, काम-क्रोध-लोभ-मोह-अभिमानके वश होकर पापकर्म करनेवाला राजस-तामसगुणयुक्त असाधु बन जाता है और मरनेके बाद आसुरीयोनि तथा यन्त्रणामय नरकोंको प्राप्त होता है।

याद रक्खो—चिन्तन तथा विचार उन्हीं प्राणी, पदार्थ आदि विषयोंका होगा, जीवनमें अधिक जिनका सङ्ग होगा। अतएव जिससे उपर्युक्त साधु-जीवन न बनकर असाधु जीवन बनता है, उसे कुसङ्ग समझना चाहिये और उसका हर मूल्यपर त्याग करना चाहिये।

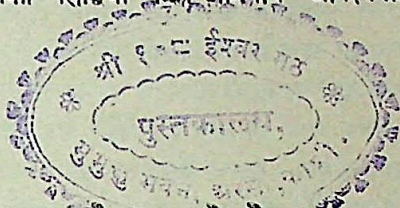
याद रक्खो—कुसङ्ग केवल मनुष्योंका ही नहीं होता, शरीरसे होनेवाले सभी काम, इन्द्रियोंके सारे विषय, स्थान, साहित्य, व्यापार, नौकरी, अर्थ-सम्पत्ति, खान-पान, वेश-भूषा आदि—सभी कुसङ्ग बन सकते हैं।

अतएव उस स्थानसे, उस साहित्यसे, उस व्यापार-व्यवसायसे, उस पद-अधिकारसे, उस नौकरीसे, उस धन-सम्पत्तिसे, उस खान-पानसे, उस वेश-भूषासे, उन देखने-सुनने, स्पर्श करने, चखने तथा सूँघनेके प्रत्येक पदार्थसे, उस धर्म-कर्म कहलानेवाले कामसे तथा उस मानव-समूहसे सर्वथा बचे रहो जो तुम्हारे जीवनको राजस-तामस-असाधु बनाता है।

याद रक्खो—यहाँके धन-दौलत, मान-सम्मान, पद-अधिकार, यश-कीर्ति आदिका कोई महत्त्व नहीं है। ये तो प्रारब्धवश असुर-राक्षसों तथा चोर-डाकुओंके पास भी हो सकते हैं। महत्त्व तो है—दैवीसम्पदाके गुणोंका। जीवनमें उन्हींका उपार्जन, सेवन तथा संवर्धन करते रहना चाहिये। धन-दौलत, मान-सम्मान, पद-अधिकार और यश-कीर्ति प्रचुर मात्रामें प्राप्त भी हो गये—और जीवन आसुरी सम्पदासे भरा रहा, पापकर्म होते रहे तो इन सब पदार्थोंके होनेपर भी वहाँ शान्ति-सुख मिलेगा और न परलोकमें ही। वरं जिन आसुर-मानवोंको ये सब प्राप्त हैं, वे जिस घोर अशान्ति, दिन-रातके अन्तर्दाह, अत्यन्त चिन्ताका भोग करते हैं और आठों पहर काम, क्रोध, लोभ, अभिमानके वश होकर द्रोह, दम्भ, द्वेष, चोरी, ठगी, छिपी या खुली ढकैती, परनिन्दा, पर-अनिष्टसाधन, वैर, हिंसा, ध्वंस आदि मानस तथा शारीरिक पापोंमें लगे रहते हैं, उसपर विचार करनेपर तो इस स्थितिसे बुद्धिमान पुरुषको बड़ा भय लगता है। पर नरकके कीटकी भाँति दिन-रात ऐसे ही पतित-जीवनके प्रवाहमें पड़े हुए वे लोग इस पाप-जीवनमें गौरवका अनुभव करने लगते हैं और इसको कर्तव्य मान लेते हैं। यह भविष्यको सर्वथा दुःख-संतापमय बनानेवाली बड़ी बुरी स्थिति है। आसुरी भोग-जगत्में प्रायः यही स्थिति है।

याद रखो—जो इन धन-दौलत, मान-सम्मानादिसे अतएव बड़ी सावधानीके साथ ऐसा ही प्रयत्न करो, रहित हैं, पर जिनका जीवन दैवीसम्पदासे युक्त है, वे जिसमें हमारा पुण्यकर्ममय साधु-जीवन बने, जिसकी जीवनमें पवित्र कर्म करते हुए अपना तथा प्राणीमात्रका मानवके ध्येयकी सिद्धिके लिये अनिवार्य आवश्यकता निश्चय ही यथायोग्य कल्याण-साधन करते हैं । है ।

‘शिव’



ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

(पुराने सत्सङ्गसे)

मानवजीवनके चरम लक्ष्यकी प्राप्ति संतपुरुषोंके सङ्गसे सुगम है

कमय बीता जा रहा है, चेतना चाहिये । हमलोग जिस कामके लिये आये थे, उसे करना चाहिये । मनुष्यका जन्म सब दुःखोंके अभाव, परम शान्ति एवं परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही भिला है । इसीको मुक्ति, परमपदकी प्राप्ति, आत्मोद्धार आदि नामोंसे कहा गया है । अतः इसकी प्राप्तिके लिये तत्परताके साथ प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि यह मनुष्य-जन्मके अतिरिक्त दूसरी किसी योनिमें सम्भव नहीं ।

संसारमें कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता, बाध्य होकर सबको दुःख भोगना पड़ता है । फिर भी लोग दुःख-निवृत्तिके लिये उचित प्रयत्न नहीं करते । सभी सुख चाहते हैं; किंतु वास्तविक सुखकी प्राप्तिके लिये कोई सच्चा प्रयत्न नहीं करता, अतः उससे वञ्चित रहते हैं ।

इसलिये हमलोगोंको प्रातःकाल और सायंकाल अपने अधिकारके अनुसार संध्या, गायत्रीजप, ध्यान, पूजा-पाठ, स्वाध्याय आदि अर्थ और भावको समझकर भ्रद्धाभक्तिपूर्वक निष्काम भावसे करना चाहिये ।

व्यवहारकालमें भगवान्‌के नाम और स्वरूपको हर समय याद रखते हुए भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार सबके साथ स्वार्थका त्याग करके सत्यता और समतापूर्वक व्यवहार करना चाहिये ।

रात्रिमें सोनेके समय संसारके व्यर्थ संकल्पोंके प्रवाहका अर्थवा त्याग करके परमात्माके नाम, रूप, गुण, प्रभाव

तत्त्व, रहस्य और लीलाका मनन करते हुए ही शयन करना चाहिये ।

दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, दुर्व्यवहार, निद्रा, आलस्य, प्रमाद, शोक, मोह, भय और राग-द्वेषको विषके समान समझकर सबका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये एवं सद्गुण, सदाचार, भक्ति, ज्ञान और वैराग्यको अमृतके तुल्य समझकर इनका सेवन करना चाहिये ।

उपर्युक्त सब काम सत्पुरुषोंके सङ्गसे ही सुगम हैं । जिनके सङ्गसे हमलोगोंमें दैवी सम्पदाके लक्षणोंका प्रादुर्भाव हो, वे ही हमारे लिये सत्पुरुष हैं ।

महात्माओंका प्रभाव भ्रद्धासे ही जाना जा सकता है

महात्माओंकी शक्ति अपरिमित है, मनुष्यकी चारणा परिमित है । उसका वास्तविक रूप देखनेमें नहीं आ सकता; वे बताते भी कम हैं । वह युक्तियोंसे भी समझमें नहीं आता; क्योंकि वहाँ युक्ति भी नहीं चलती । तर्कके विषयमें भी यही बात है । केवल भ्रद्धाके द्वारा उसका ज्ञान सम्भव है । परमात्माका रूप भी भ्रद्धापर ही निर्भर करता है । तर्कपर कसनेसे तो परमात्मा भी बाधित हो सकते हैं, किंतु परमात्माका अस्तित्व हमारे न माननेसे मिटेगा नहीं । इसी प्रकार महात्माओंका प्रभाव भी हम नहीं मानेंगे तो मिट थोड़े ही जायगा । ईश्वरका और महात्माओंका एक-सा ही प्रभाव है । पर वैसी हमारी भ्रद्धा नहीं है । इसीलिये भ्रद्धाकी महिमा बतायी है—

‘भ्रद्धावान् लभते ज्ञानम्’

(गीता ४ । ३९)

‘भ्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो ब्रह्मज्ञः स एव सः ।’

(गीता १७ । ३)

जिस प्रकार वक्ताकी वाणी एवं समय सब एक होने पर भी भावके अनुसार उसके अर्थ-ग्रहणमें भेद हो जाता है, उसी प्रकार महात्माके प्रति भाव-भिन्नताके कारण उनसे मिलनेवाले लाभमें भी तारतम्य हो जाता है। इसीसे भद्राका महत्त्व है। अश्रद्धालुको व्याख्यानसे जो लाभ नहीं होता, भद्रालुको महात्माकी आकृतिके दर्शनमात्रसे ही उसकी अपेक्षा अधिक लाभ हो जाता है। विशेष भद्रावालेको महात्माकी भाव-भंगिमा, मुद्राको देखकर, भद्राकी स्मृतिसे ही लाभ हो जाता है। वर्षाका जल समानरूपसे बरसता है, पर पात्रके अनुसार उसके नाना भेद हो जाते हैं, वह सीपपर बरसनेसे मोती और साँपपर बरसनेसे जहर हो जाता है। इसी प्रकार महात्माकी विभिन्न क्रिया एवं व्यवहारका भी जैसी भद्रा होती है, वैसा ही फल होता है।

भद्रालुकी दृष्टिमें महात्माकी प्रत्येक क्रिया कल्याण-कारिणी होती है। अपने भावके अनुसार हम महात्माको देखते हैं—कोई महात्माको ढोंगी कहता-समझता है, कोई स्वार्थी और कोई मान-बड़ाई चाहनेवाला तथा कोई पागल भी समझता है। इसी प्रकार भद्राके तारतम्यसे भद्रालुओं की मान्यतामें अन्तर होता है। कोई कहता है—‘इनकी प्रत्येक क्रिया हमलोगोंके कल्याणके लिये ही है’। दूसरा कहता है—‘ये कल्याणरूप ही हैं’। तीसरा कहता है—‘ये तो हमलोगोंके कल्याणके लिये ही यहाँ आये हैं’। पर महात्मा पर इन मान्यताओंका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

महापुरुषोंका लीला-रहस्य यदि थोड़ा भी समझमें आ जाय तो वे जो भी क्रिया करें—उनका खाना-पीना, बोलना-चलना आदि सबमें उपदेश भरा रहनेके कारण—वे सब भी हमारे लिये आकर्षणकी वस्तु हो जाती हैं। उनके प्रत्येक व्यवहारमें प्रेम और रहस्य भरा है। यह समझमें आनेके साथ ही उनकी सारी क्रिया इतनी आनन्ददायक हो जाती है कि हम उसे देख-देखकर आह्लादित होते रहते हैं। फिर हमारा आनन्द समाता ही नहीं।

पतिव्रता स्त्री एकान्तमें पतिके साथ वार्तालाप करती है। पतिकी प्रत्येक क्रिया उसके लिये आनन्ददायक होती है। पतिको देख-देखकर उसका हृदय गद्गद हुआ रहता है, नेत्र डबडबाये रहते हैं; उसे अपने-आपका होशतक नहीं रहता। इसी प्रकार जिसमें जितनी भद्रा होती है, उतना ही वह महात्माके रहस्यको समझ पाता है तथा जितना रहस्य समझमें आता है, उतना ही उसका परिवर्तन हो जाता है।

भद्रालुकी सारी क्रियाएँ अपने भ्रष्टेयकी दृष्टिके अनुसार स्वाभाविक ही हुआ करती हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे मनुष्य जिधर जाता है, उसकी छाया पीछे-पीछे चालती है। महात्माके तत्त्वका ज्ञान होनेपर हमारी भी क्रिया उसी तरह होने लगेगी। अपना कोई मन ही नहीं रहेगा, जिसके अनुकूल-प्रतिकूल हो। भद्रालुका मन भ्रष्टेयके अधीन हो जाता है; उसकी फिर निजकी इच्छा रहती ही नहीं। जब निजकी इच्छा ही नहीं रही, तब अनुकूलता-प्रतिकूलता कैसी! कटपुतलीकी अनुकूलता-प्रतिकूलताका कोई प्रश्न ही नहीं बनता। जिसकी ऐसी स्थिति स्वाभाविक हो जाती है—वही उसकी फलरूप अवस्था है। आरम्भमें तो अभ्यास करना पड़ता है, फिर यह अवस्था स्वाभाविक हो जाती है।

भद्रालुको महात्माकी प्रत्येक क्रिया आनन्ददायक ही दीखती है। महात्माके साथ जिन चीजोंका संसर्ग हो जाता है, उनके द्वारा कोई यत्न भी हुआ जाता है तो भद्रालुको उसके भीतर अलौकिकता प्रतीत होने लगती है।

एक पात्रमें गङ्गाका जल है और दूसरेमें नदीका जल। हिंदूसे इतर लोगोंकी दोनोंमें एक-सी भावना होती है। हमारे पास भी लोटेमें लाकर दोनों जल अलग-अलग रख दिये जायें तो हम पहचान नहीं सकते, किंतु मालूम होनेपर कि एकमें गङ्गाजल है, भद्राके कारण तत्काल उसके प्रति दूसरा ही भाव हो जाता है।

एक भद्रालु महात्माको देख रहा है, दूसरा भी देख रहा है। दोनोंके देखनेमें अन्तर नहीं है, पर भद्रालुके नेत्र वे ही होते हुए भाव दूसरा होनेसे वह दूसरी दृष्टिसे देखता है। महात्माको स्पर्श करके जो हवा चलती है, उस हवाके लगनेसे वह मुग्ध हो जाता है। वही हवा दूसरोंको भी लगती है, पर उनको वैसी अनुभूति नहीं होती। नदी वह रही है, हमलोग वहाँ स्नान कर रहे हैं। महात्माको छूकर जो जल आ रहा है, वह जल भद्रालुको स्पर्श करता है तो वह उसे गङ्गाजलसे भी बढ़कर समझता है तथा उसे इसका अनुभव होता है। महात्मासे स्पर्श की हुई धूलिको भी वह दूसरी दृष्टिसे देखता है। अकूर भगवान्की चरणधूलिको देखकर रास्तेमें कूद पड़े। और लोग भी उसी रास्तेसे जाते थे, पर उन्हें धूलिमें कोई विशेषता नहीं दिखायी दी। अकूरजीको विशेषता दिखायी दी और वे उस धूलिमें लोटने लगे। भद्रालुको ऐसी ही अलौकिकता दिखायी देती है, चाहे अपने अनुभवको वह समझा न सके।

महात्मा जब भद्रालोक को छू देता है तो उसके खारे शरीरमें प्रेम और आनन्दसे इतनी विह्वलता हो जाती है कि वह बेसुध हो जाता है। छूनेके साथ ही सारा शरीर प्रेमसे घेसा हो जाता है कि वह उसे संभाल नहीं सकता।

होती है। भगवान् न काठमें हैं, न मिट्टीमें हैं, और न पत्थरमें ही हैं। जहाँ भाव है, वहीं भगवान् हैं। सभी चीजोंमें यही बात है—भाव ही प्रधान है।

भाव अलौकिक चीज है। भगवान् की प्राप्ति भावसे ही

हसलिये महात्माओंमें, शास्त्रोंमें जिस प्रकारसे हमारी भद्रा हो, भाव हो, वही प्रयत्न हमें करना चाहिये।

आस्तिकताकी आधारशिलाएँ

सच्चे सुखके दर्शन हम कैसे पा सकते हैं ?

श्रीकृष्णको जीवनका लक्ष्य बनाने

वास्तवमें मानव-जीवनका उद्देश्य क्या है ? वह है—सुख। वेदान्तकी बड़ी-बड़ी पद्धतिके द्वारा लोग सचमुच यह निर्णय करते हैं कि मनुष्यके मनमें यह सुखकी वासना है क्यों ? और अन्तमें इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि आत्यन्तिक निरतिशय सुख उसका स्वरूप है। उससे उसे विच्छिन्नताका भ्रम हो गया है और वह उसीसे तादात्म्य करना चाह रहा है। इसीलिये उसके अंदर सुखकी अभिलाषा निरन्तर बनी हुई है।

हम अपने जीवनका विश्लेषण करके देखें—आज तक सुख पानेका सतत प्रयास जानमें, अनजानमें हमने किया है, पर क्या हम सुखी हो गये ? आजीवन सुखके लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहनेपर भी, आजीवन सुखकी चाह पोषित रखकर भी, आज वर्षों-वर्षोंतक सत्सङ्ग-भजन करके भी हम सुखी नहीं हो सके हैं। ऐसा क्यों ?

जिस क्षणसे सुख-दुःखका अनुभव करनेवाली हमारी बुद्धि जागरूक हुई होगी, तबसे लेकर आज तक जितनी चेष्टाएँ हमने की हैं, उनके अन्तरालमें आत्यन्तिक निरतिशय स्वरूपभूत सच्चिदानन्दसमय उस सुखसे तादात्म्य-लाभ करनेकी अभिलाषा ही रही है, परंतु अनादि अज्ञानके कारण हमारे जीवनमें भी यही होता आया है कि जो सुखका मूल उद्गम है, सुखका मूल स्रोत है, जो हमारा वास्तवमें स्वरूप ही है, वह तो हमारा साधन बन जाता है और साध्य बन जाते हैं—जगत्के कोई-न-कोई अनित्य कल्पित सुख।

उन्चे हृदयसे अगर हम पूछें तो हमको यह स्पष्ट दीखेगा कि श्रीकृष्ण अभी हमारे लिये लक्ष्य बने ही नहीं। हमारी कल्पनासे प्रसूत जो सुखकी वृत्ति है, श्रीकृष्ण उसके साधनमात्र हैं। पर उनका एक चिन्मय विलास अनादिकालसे चल रहा है, अनन्तकाल तक चलता रहेगा। वे इस बातको अच्छीतरह जानते हैं कि भेरे अमुक स्वजनको क्या चाहिये। उनके निर्णयमें कभी भ्रमका समावेश हो ही नहीं सकता। जैसे हम अपने बच्चोंके लिये निर्णय कर लेते हैं और तुरंत ही उसकी इच्छित वस्तु उसे देनेका संकल्प हमारे मनमें जगता है और व्यवस्था भी करनेका प्रयत्न करते हैं; क्योंकि हमारे मनमें प्रभुके अनन्त अपरिसीम निराविल प्यारका प्रतिबिम्ब ही आता है, जो बच्चोंको प्यार देनेके लिये उद्विग्न हो उठता है। प्यारका स्वरूप ही होता है—सर्वथा सर्वशेषमें जिसको प्यार करे, उसको सर्वथा सर्वशेषमें सुखी करनेका प्रयास करे, सुखी करता रहे। श्रीकृष्णके स्वरूपमें यह प्यार अनन्त अपरिसीम मात्रामें अनन्त सागरकी तरह लहरा रहा है। उसीका प्रतिबिम्ब हमारे मनमें जाग्रत होता है और हम अपने बच्चोंको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करते हैं।

कदाचित् उस स्थितिसे हम ऊपर उठ सकते—अपना सारा विवेक बटोरकर श्रीकृष्णको साध्य-तत्त्व बना लेते और शेष जो कुछ भी उनके अतिरिक्त पदार्थ हमको दीखते हैं, उनको साधन बना लेते, तो आज हम सचमुच-सचमुच पृथ्वीके सर्वाधिक सुखी प्राणियोंमें होते। वास्तविक सुखकी उपलब्धि हो जाती हमें तथा खरे अभाव सर्वथा समाप्त हो जाते और जीवनमें कुछ भी शेष न रह जाता प्राप्त करनेके लिये। देर-सबेर हरको इस वरातलपर आना ही पड़ेगा अर्थात् श्रीकृष्णको साध्य-तत्त्व बनाना पड़ेगा और जो कुछ भी श्रीकृष्णके अतिरिक्त वस्तु प्रतीत होती है—जन, जन, परिवार आदि, उनको साधन बनाना पड़ेगा और तभी हम सचमुच सचमुच सच्चे सुखके दर्शन पा सकेंगे।

किंतु एक वस्तुकी चाह पूरी होते ही, बच्चा दूसरी वस्तुकी चाह करने लगा। ऐसा क्यों होता है ? ऐसा इसीलिये होता है कि वास्तवमें जिस वस्तुकी माँग उस

बच्चेने की थी, उसमें पूर्ण सुखकी उपलब्धि उसे नहीं हुई। दुरंत ही उसके मनमें, अज्ञात मनमें नवीन सुखकी अभिलाषा जगी और उसके अनुसार उसकी माँग फिर हुई। अर्थात् एक नवीन सुखकी अभिलाषा, उसकी माँग, उसकी पूर्ति और फिर नवीन सुखकी अभिलाषा, उसकी माँग और पूर्ति—यह क्रम ही चलता रहा है।

श्रीकृष्णके प्रति भी हमारा सम्बन्ध ठीक इसी प्रकारका बना हुआ है। सुखकी अभिलाषा, माँग, फिर उनके द्वारा उसकी पूर्ति। श्रीकृष्ण लक्ष्य ही नहीं बन सके अभीतक तो।

सच्ची चाह होते ही भगवान् मिल जायेंगे

यदि हम अभी किसी दूरस्थित मित्रको याद करें तो उसकी मानसिक मूर्ति तो सामने आ जायगी, पर उसका शरीर यहाँसे बहुत दूर किसी अन्य स्थानमें होनेके कारण नहीं दीखेगा; परंतु भगवान्में यह बात नहीं है। भगवान् और भगवान्का स्मरण दो वस्तु नहीं है। जिस समय हम भगवान्की मूर्ति अपने मानसपटलपर लाते हैं, उसी समय वहीं पूर्णरूपसे भगवान् हमारे मनमें आ जाते हैं। पर वे बोलते इसीलिये नहीं हैं कि हम उन्हें भावनाका चित्र मान लेते हैं और थोड़ी देर बाद फिर दूसरे कामोंमें लग जाते हैं। यदि ठीकसे कोई एक भी लीलाका चित्र बाँधकर मनको उसमें डुबाये रखे तो उसी भगवान्की मूर्तिमें भगवान् प्रकट हो जायेंगे; क्योंकि भगवान् वहाँ पहलेसे ही हैं। जबतक मन नहीं लगायेंगे, तबतक हमें भगवान्को जानता हूँ—यह कहना बनता नहीं। जरा सोचें—घन चाहनेपर मन उसमें कैसे लगता है? कौन-सी युक्ति मन लगानेकी हमने किसीसे पूछी थी? नहीं पूछी थी; मनकी स्वाभाविक गति घनकी ओर लग रही थी; क्योंकि घनकी चाह थी। इसी प्रकार जहाँ भगवान्की चाह है, वहाँ मनकी गति उसी ओर दौड़ेगी। घन तो चाहनेमात्रसे नहीं मिलता, उसके लिये न जाने कितने उद्योग करने पड़ते हैं, फिर उद्योगके सफल होनेका भी निश्चय नहीं। पर इसमें तो केवल चाहकी जरूरत है। 'हे नाथ! तुम मुझे मिल जाओ'—यह चाह होते ही वे मिल जायेंगे। विचार करें—जब भगवान्का चिन्तन छोड़कर मन दूसरी चीजपर जाता है, तब उसके लिये भगवान्से अधिक मूल्य उस वस्तुका है या नहीं? और जब उसकी कीमत हमारे मनमें ब्यादा है तो भगवान् क्यों आवें! यह सर्वथा सत्य है कि सच्ची चाह

उत्पन्न होते ही वे मिल जायेंगे, चाह होते ही भगवान् उस चाहको पूर्ण कर देंगे।

तत्परतासे हम चेष्टा करें; फिर कभी तो भगवान्की कृपा पूर्ण कर ही देगी

भगवत्स्मरणकी चेष्टामें त्रुटि नहीं होनी चाहिये। यह निश्चित है कि त्रुटि इसीलिये होती है कि हम त्रुटि होने देते हैं। कम-से-कम प्रत्येक पाँच मिनटपर भगवत्स्मरणका नियम अत्यन्त दृढ़तासे निभाना चाहिये। इसमें जरा भी कठिनाई नहीं है। केवल मनकी लगन होनेसे ही काम हो जायगा। मनका स्वभाव यों तो बहुत बदमासी करनेका है, पर इसमें एक गुण भी बड़ा सुन्दर है। हम जिस चीजमें इसे लगा दें तथा एक बार अच्छी तरह उस वस्तुको इसे पकड़ा दें, फिर वह जल्दी उस वस्तुको छोड़ना नहीं चाहेगा। अनादिकालसे हमने इसे संसार पकड़ा रखा है, इसीसे वह इसे छोड़ना नहीं चाहता। पर एक बार दृढ़तासे यदि हम इसे भगवान्का चिन्तन पकड़ा देंगे तो फिर यह भगवान्को भी दृढ़तासे ही पकड़ लेगा और छोड़ना नहीं चाहेगा। यह सर्वथा सत्य है कि हमारी इच्छाकी कमीके कारण पाँच-पाँच मिनटके भगवत्स्मरणमें भूल हुई है, होती है; नियम छूटता है। हम यदि चाहने लगें कि पाँच-पाँच मिनटपर तो भगवत्स्मरणमें भूल नहीं ही होने देंगे, तो हम देखेंगे कि प्रत्येक दिन भूलमें कमी होने लगेगी और कुछ ही दिनोंमें भूल होनी बंद हो जायगी। हाँ, हम करेंगे ही नहीं, तो फिर तो उसकी दवा ही नहीं है। तत्परतासे हम चेष्टा करें, फिर कभी तो भगवान्की कृपा पूर्ण कर ही देगी।

कोई कह सकते हैं, मन नहीं लगता, सो मन तो लगानेसे ही लगेगा। इसका एक उपाय है—२४ घंटेका हम नियमित कार्यक्रम बना लें—इतनी देरतक अमुक काम, फिर अमुक काम, फिर अमुक काम। इस प्रकार ठीक कार्यक्रम जँचाकर घड़ीसे सब काम करें तथा ध्यान रखें कि जो काम जिस समय करेंगे, उसमें मन लगाकर ही करेंगे। केवल भगवान्की स्मृतिके लिये छूट है; क्योंकि मुख्य वस्तु जीवनमें भगवत्स्मरण ही है; अन्यथा प्रत्येक काम मनुष्यको पूरे मनोयोगसे करना चाहिये। प्रत्येक कार्य हम पूरे मनोयोगसे करें। दो महीना यदि ठीक २४ घंटेका कार्यक्रम

गँचाकर करें तो फिर तो हमको किसी प्रमाणकी जरूरत नहीं होगी, स्वयं ही एक विलक्षण आनन्द मिलेगा ।

सच्चे संतका स्पर्श करें, फिर हम उसी ढाँचेमें ढल जायँगे

विश्वास करें—‘हम चाहे मलिन-से-मलिन प्राणी क्यों न हों, केवल मैलेकी तरह हममें दुर्गन्ध ही क्यों न भरी हो, बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, केवल वदू आ रही हो, पर ‘संत’ नामकी वस्तु इतनी पवित्र है, इतनी सरस है कि उसका स्पर्श होते ही हम बिल्कुल उसी ढाँचेमें ढल जायँगे । आग क्या यह देखती है कि यह मैला है ? मैला आगमें पड़ा कि सारा-का-सारा अंगारा बन जायगा । हम मिलें, उसमें मिलें; अपनी सारी मलिनता, सारी दुर्गन्ध लेकर मिलें । दिन-रात उसके इशारेपर चलनेकी चेष्टा करें, दिन-रात सोचें—‘संत कितने कृपालु हैं ।’ दिन-रात यह विचार करें—‘कृपामय ! तुम्हारी कृपा ही मुझे भले

अपना ले, मुझमें तो बल नहीं ।’ दिन-रात नाम लें; चक्ते-फिरते नाम लें । इससे बड़ी सहायता मिलेगी । दिन-रात यही इच्छा करें कि संतका सङ्ग नहीं छूटे । दिन-रात यही सोचें कि संतके लिये परिवार, संतके लिये इज्जत यदि बाधक है तो संतके चरणोंमें इनको भी समर्पण कर देना है । इसका यह अर्थ नहीं कि संन्यासी बन जाना है । बाहर कपड़ा रँगकर भी क्या होगा ? परंतु यह नितान्त सत्य है कि सर्वस्वकी आहुति देनेके लिये तैयारी मनसे ही करनी पड़ेगी । बाहरका ढाँचा ज्यों-का-त्यों रहकर मन बिल्कुल खाड़ी हो जायगा, तभी हमारी अभिलाषा पूर्ण होगी । यदि किसी संतकी दृष्टि—अमृतमयी दृष्टि, अमोघ दृष्टि पड़ चुकी है तो हमारे लिये परवाना काटा जा चुका, परंतु हम यदि अपनी ओरसे देनेके लिये—जिसकी चीज है, उसकी ही चीज उसको लौटानेके लिये तैयार हो जायँ, अर्थात् अपनी ममता उठाकर सबपर उसका अधिकार मान लें, तो फिर शीघ्र-से-शीघ्र कृपा प्रकाशित हो जायगी ।

सच्चे संत कौन हैं ?

दम्भ-मान-मद-पद-यश-वैभवका जो करते मनसे त्याग ।
दुःखयोनि इन्द्रिय-भोगोंमें भूल न रखते रंजक राग ॥
काम-क्रोध-लोभसे निरहित, दुराचार-दुर्मतिसे हीन ।
ममता-अहंकार-भय-वर्जित, द्रोह-वैर-हिंसादि-विहीन ॥
‘जमत्कार’-‘आश्रय’-‘सिद्धि’ दिखलानेकी न भावना-लेश ।
नहीं वासना तनिक ‘आत्मपूजन’की, धर ‘विरक्तका वेश’ ॥
सरल, अकृत्रिम, सादा जीवन दैवीसम्पद्भ्युक्त विशुद्ध ।
नहीं एक भी क्रिया-चेष्टा देह-चित्तकी शास्त्रविरुद्ध ॥
क्षम-दम-त्याग-तितिक्षा-समता-सत्य-अहिंसा-सेवाभाव ।
शुचिता-तप-साहिष्णुता-करुणा-विनय-ईशचिन्तनका वाव ॥
प्राणिमात्रमें देख नित्य प्रभुको, करते सबका सम्मान ।
सबका सुख-हित-साधन करते पावन परम धर्म यह मान ॥
अथवा सबमें देख निजात्मा, आत्मामें सब भूल निहार ।
आत्मोपम सुख-दुःख सभीके जान सदा करते व्यवहार ॥
ऐसे जो आदर्श परम मानव हैं, वे ही ‘सच्चे संत’ ।
उनका सेवन-सङ्ग सहज कर देता भवबन्धनका अन्त ॥

धर्म-प्रेरणा के स्रोत

(देखें— अनन्तश्री स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

जैसे वायुका धर्म 'गति' और अग्निका धर्म 'दाह' है, वैसे ही मनुष्यका धर्म 'मनुष्यत्व' है। मनुष्य-शरीरमें मज्जागत एक विशेषता है, रक्तगत एक वीर्यवृत्ता है, चित्तगत एक संस्कार है, बुद्धिगत एक विचारधारा है, स्वभावगत एक रसप्रवाह है, आत्मगत एक अनुवृत्ति-भ्यावृत्तिका बोध है। वस्तुतः मनुष्य धर्म छोड़कर जीवित नहीं रह सकता। भिन्न-भिन्न वस्तुओंके चिन्तनमें लगे रहनेके कारण मनुष्य आत्मनिरीक्षण नहीं कर पाता। आप थोड़ी देरके लिये त्वस्थचित्तसे अपने धर्मके सम्बन्धमें चिन्तन कीजिये। आपको धर्म-प्रेरणा कहाँसे प्राप्त होती है ?

१. क्या आपको ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर धर्मके लिये प्रेरित करता है ? वह प्रेरणा किस प्रकारकी होती है ? क्या उसका रूप कुछ ऐसा होता है कि आप अपने मन एवं इन्द्रियको इस कर्मसे, भोगसे, संग्रहसे और भाषणसे अलग रखें ? इस निषेधात्मक प्रेरणाका बड़ा महत्त्व है। आप इसपर गम्भीरतासे ध्यान दीजिये। अथवा ईश्वरसे इस प्रकारकी प्रेरणा मिलती है कि इस प्रकारका कर्म, भोग, संग्रह और भाषण करो ? प्रवर्तक प्रेरणामें धर्मको पहचानना कठिन है। क्या आप अज्ञानियोंको ज्ञान, कंगालोंको अन्न-वस्त्र, रोगियोंको औषध देनेकी प्रेरणा ग्रहण करके उसके अनुसार आचरण करते हैं ?

२. क्या आप ईश्वरकी प्रेरणा और पूर्व-संस्कारोंकी प्रेरणामें भेद कर सकते हैं ? पूर्व-संस्कार अच्छे-बुरे दोनों प्रकारके होते हैं। उनसे समय-समयपर दोनों प्रकारकी प्रेरणा भी प्राप्त होती है। यदि आप पूर्व-संस्कारोंके द्वारा ही अपने जीवनको संचालित करेंगे तो आपका अन्तर्बुद्धि कभी मिट नहीं सकेगा। अनादि कर्म-प्रवाहसे उत्पन्न संस्कार और उनसे बना हुआ स्वभाव समुद्रकी बाह्य-आम्यन्तर दबाव और उथल-पुथलके समान परस्पर संघर्षरत रहते हैं। इनपर अपने जीवनको छोड़ा नहीं जा सकता। हाँ, इनसे ईश्वरकी प्रेरणाको पृथक् करना विशिष्ट अन्तर्दृष्टिके बिना सम्भव नहीं है।

ईश्वरकी तटस्थता एवं असङ्गतापर दृष्टि ढाली जाय तो

वह कोई स्वैच्छिक, स्वतन्त्र एवं नवीन प्रेरणा नहीं दे सकता। वह आपके अन्तःकरणकी उपाधिको अपने सान्निध्य-मात्रसे आभासित और संचालित करता है। ऐसी स्थितिमें ईश्वरका नियमन भी पूर्व-संस्कारानुसार ही मानना पड़ेगा। तब फिर हमें गम्भीरतासे यह देखना होगा कि जब हम पूर्व-संस्कार अथवा उसकी उपाधि स्वीकार करके ईश्वरके द्वारा संचालित होते हैं तो हम सदा उनसे द्वारा नियन्त्रित कठपुतली ही बने रहेंगे; कर्म-चक्रसे मुक्त नहीं हो सकते। हमें कुछ नवीन कर्म करने होंगे, जो अनादिकालसे अनवरत प्रवाहित कर्म-धाराको नया मोड़ दें और हमारी यात्राको सुक्तिके लिये उन्मुख करें। कम-से-कम वह ऐसे तो होने ही चाहिये, जो स्थूल देह और उसके सम्बन्धोंको शिथिल करके सूक्ष्म शरीरको प्रधानता दे। परलोक, आन्तर-रसास्वादन, समाधि अथवा शुद्धिकी भावना जाग्रत् करके सत्य तत्त्वकी जिज्ञासाकी ओर ले जायँ। इसके लिये नवीन क्रिया-कलापकी प्रेरणा क्या आप पूर्व-संस्कारोंपर छोड़ देते हैं ? अथवा इसके लिये कोई नवीन स्रोत ढूँढ़ते हैं ?

३. आपका धर्म आपके अस्तित्व, ज्ञान, आनन्द, नियन्त्रण-शक्ति और समन्वय-भावनाकी रक्षाके लिये होना चाहिये। धारणके अभिप्रायसे 'धर्म' शब्दके प्रयोगका यही अर्थ है। इसके लिये सामाजिक परिस्थितिसे प्रेरणा लेनेपर सुधार-भावनाका जन्म होता है। भौगोलिक परिस्थितिसे विचार करनेपर राष्ट्रीयता परिपक्व होती है। ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे देखनेपर संस्कृति-प्रेमका जन्म होता है। आचार्य-परम्परापर ध्यान देनेसे सम्प्रदाय-सर्वादा जुड़ती है। मूलपुरुषकी प्रधानतासे जातीयता आती है। धर्म और अर्थकी प्रधानतासे विचार करनेपर वर्ग-विशेषसे तादात्म्य होता है। ऐसे अनेक बाह्य कारण हो सकते हैं, जिनसे आप धर्मकी प्रेरणा ग्रहण करते हैं, परंतु ये सब-की-सब दृष्टियाँ अधूरी हैं और धर्मके केवल तात्कालिक एवं एकाङ्गी रूपका परिचय देती हैं। कभी-कभी ये परस्पर संघर्ष करती हैं और धर्मके नामपर अधर्मको ही अभिव्यक्ति देती हैं। दृष्टि-विशेषमें आविष्ट पुरुष तमसावृत होकर अधर्मको ही धर्म मानने लगता है। उससे अपने ही प्रयोजनका गला घुट जाता है। इनमेंसे किसी एकमें आपकी प्रियता आपको पक्षपाती और दूसरोंके प्रति

कूर बनाती है। क्या आप इनसे मुक्त रहकर धर्मका सच्चा ज्ञान प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील हैं ?

४. क्या आप वस्तुके गुणावगुण और क्रिया-कलापके द्वारा निष्पन्न होनेवाले परिणामोंपर अन्वय-व्यतिरेककी दृष्टिसे विवेक करके धर्माधर्मका निर्णय करते हैं ? द्रव्यके गुणावगुणका विवेक केवल साधारण दृष्टिसे रासायनिक प्रक्रियाके द्वारा नहीं किया जा सकता। उसके लिये देश, काल, जाति, व्यक्ति, मान्यता, अवस्था, स्थिति, शक्ति, वय आदिका सम्पूर्ण ज्ञान अपेक्षित होता है। कब, कहाँ, किसके लिये, किस परिस्थितिमें क्या हितकारी है, यह सर्वज्ञ ईश्वरके अतिरिक्त और कौन जान सकता है ? रही बात क्रिया-कलापकी, सो समग्र मानव-जातिके लिये सार्वकालिक एवं सार्वभौम उदार दृष्टिसे विचार करनेका दावा कौन कर सकता है ? अनुदीर्ण और संकीर्ण दृष्टि होनेपर अपने ग्रन्थ और पन्थका बोल-बाला हो जाता है और अपनी डफली और अपना राग बजने लगता है। द्रव्यके गुणावगुण और क्रिया-कलापके परिणामोंका लौकिक सम्बन्ध यथाकथंचित् ज्ञात भी हो जाय तो पारलौकिक सम्बन्ध ज्ञात करनेका कोई उपाय नहीं है। इसलिये यदि आप केवल अपनी बुद्धि और विवेकके द्वारा धर्मकी प्रेरणा प्राप्त करते हैं तो आप पुनर्विचार क्रीजिये—आपका युक्तिवाद भुक्तिका हेतु हो सकता है, मुक्तिका नहीं। क्या बालक, वृद्ध और मूर्खजन भी इस युक्तिसे धर्म-प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं ? यदि नहीं, तो धर्मके उद्गम-स्थानको और भी गहराईमें ढूँढ़ना आवश्यक है। धर्मके प्रेरक तत्त्व इतने उथले स्तरपर नहीं रहा करते।

५. क्या आप ऐन्द्रियक ज्ञान एवं मानसिक संवेदनोंसे अपने चित्तमें जो अनुभव-संस्कार एकत्र करते हैं और उनके आधारपर जो अनुमानाभास और उनके बच्चे-कच्चे वंश-वृद्धि करते हैं, वे धर्मका साक्षात्कार करनेके लिये पर्याप्त प्रामाणिक हैं ? यदि धर्मका लौकिक प्रत्यक्ष हो जाता और उसके आधारपर होनेवाले अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति अथवा अनुपलब्धिके द्वारा हम उसको देख पाते तो क्या सृष्टिमें धर्मके सम्बन्धमें इतने मतभेद और संघर्षोंकी सृष्टि हो पाती ? भ्रम वस्तु-शोधनके लिये होता है, धर्म अधिकारी-शोधनके लिये होता है। जड़ताकी प्रधानतासे भ्रम और चैतन्यकी ओर उन्मुखतासे धर्म सम्भव है। प्रत्यक्षादि प्रमाण बाह्यदर्शी होते हैं, धर्म अन्तरङ्ग वस्तु है।

वह अन्तःकरणको दोषमुक्त और अन्तर्मुख करता है। आत्मा अथवा परमात्मामें स्थित करानेवाला परमधर्म है—‘योग’ अथवा ‘भक्ति’। परंतु आत्मा-परमात्माके ऐक्यका बोध किसी धर्मका परिणाम नहीं है। धर्म-संस्कारके द्वारा केवल विकारकी निवृत्ति-मात्र होती है। ऐक्यका बोध तो चरम एवं परम प्रमाणका विषय है। ऐसी स्थितिमें यदि आप ऐन्द्रियक अथवा मानसिक संवेदनोंको प्रेरक मानकर धर्मका निर्णय करते हैं तो क्या आप सच्चे धर्मका निर्णय कर सकेंगे ? क्या आपके इन्द्रिय और मन प्राकृत विकार एवं संकीर्ण संस्कारसे मुक्त हैं ?

६. प्राकृत वस्तुओंके अनुकरण-कौशलके उत्कर्षसे कलाका विकास होता है, उनपर आधिपत्य प्राप्त करके उपयोगी बनानेकी प्रक्रियासे विज्ञानका। बाह्य पदार्थोंके परिवर्तन, प्रवर्तन अथवा संशोधनके लिये श्रमकी अपेक्षा होती है; परंतु धर्म वह काम करता है, जो इनमें किसीके द्वारा सम्पन्न नहीं होता। उसका काम है—अन्तःकरण-शुद्धिद्वारा ज्ञाताके प्रकाशित होनेके मार्गमें जो प्रतिबन्ध हैं, उनको दूर करना। विशेष करके अन्तःकरणसे मलिन वासनाओंको निकाल देना और उसको एक विशेष आकारमें पहुँचाना धर्मका काम है। ऐसी स्थितिमें धर्मकी प्रेरणाके लिये अज्ञात ज्ञापक, शासनात्मक, वासना-प्रतिरोधी, बाह्य-क्रियात्मक स्रोतकी अपेक्षा है। फल मिलनेपर धर्मका पता चलनेसे केवल आगेके लिये अनुभव-संग्रह किया जा सकता है या अमुक प्रकारकी वृत्तिसे जो उत्पन्न अदृष्ट या अपूर्व होगा, पता नहीं, वह कब हमारे काम आयेगा ? वस्तुतः धर्म ऐसा होना चाहिये कि हम अपनी क्रिया और भावके द्वारा इसी समय, इसी स्थानमें, किसी वस्तुका ठीक-ठीक सदुपयोग कर सकें। जैसे, अकालके समय दुर्भिक्ष-पीड़ित स्थानमें क्षुधा-पीड़ित जनताको अपने हाथसे उठाकर हम कुछ अन्न-धन दे सकें। यदि धर्मका ऐसा रूप नहीं होगा तो वह किसी मनुष्यके द्वारा कैसे अनुष्ठित होगा ? और यदि अनुष्ठित नहीं हो सकेगा तो धर्मका अर्थ ही क्या ? इसको प्राचीन भाषामें यों कहा जा सकता है कि पुण्यकालमें यज्ञशालाके अंदर यज्ञ करानेवाले ऋत्विजको जब दक्षिणा दी जायगी, तब धर्म होगा। धर्मका रूप सर्वथा दृष्ट होना चाहिये; उससे अदृष्टकी उत्पत्ति हो या दृष्ट फल मिले। उसके लिये चाहिये—अधिकारी, भ्रष्टा,

विधान, क्रिया, सम्पत्ति, सहायक और समग्रता आदि ।

अब किस नियम, व्रत, दान, आदान, स्नान, कर्मको धर्म कहा जाय—यह बात वासनानुसार नहीं, शासनानुसार ही निश्चित करनी पड़ेगी । उस शासनका जो शाश्वत, सार्वभौम मौलिक रूप है, उसे 'शास्त्र' कहते हैं । वह देश, काल, वस्तु, क्रिया, पुरुष, अन्तःकरण आदिकी उत्पत्तिके पूर्वसे ही बीजरूपमें रहता है और रूप-व्याकृतिके साथ ही उसकी नाम-व्याकृति भी होती है । जो ईश्वर सृष्टिका निर्माता है, पूर्वकल्पनानुसार वही शास्त्रका भी निर्माता है । दोनोंका ही वह प्रकाशक मात्र है । करण-निबन्धन-कर्तृत्व

उसमें नहीं है । क्या आप किसी ऐसे शास्त्रको मान्यता देते हैं, उसके विज्ञानको समझनेका प्रयत्न करते हैं ? यदि नहीं, तो आप अपनेको तत्त्वज्ञान और धर्मके मार्गसे कहीं विमुख तो नहीं कर रहे हैं ? ज्ञानात्माके शुद्ध स्वरूपको संकेतित करनेवाली यह शास्त्र-प्रक्रिया आपकी धर्म-प्रेरणाका स्रोत क्यों नहीं बनती ? जहाँ वासनानुसारिणी बुद्धि आपको बहिर्मुख बनाती है, वहाँ शासनानुसारिणी बुद्धि अन्तर्मुख करेगी । धर्मानुष्ठान करना तो अलग, इस धर्मानुशासनको हृदयङ्गम करनेका प्रयत्न भी आपको धर्मात्मा होनेकी प्रेरणा देगा ।

गोलोकवासी परमपूज्यपाद अनन्तश्री श्रीहरिबाबाजी महाराजके महत्त्वपूर्ण सदुपदेश

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

भारतके सुप्रसिद्ध महान् संत परमपूज्यपाद प्रातःस्मरणीय अनन्त श्रीविभूषित श्रीस्वामी स्वतःप्रकाश श्रीहरिबाबाजी महाराज हमारी करबद्ध प्रार्थनापर एक बार परम-पूजनीया श्रीश्रीश्रीआनन्दमयी माँ तथा महाराजाधिराज टिहरी-नरेशके साथ पिलखुवा हमारे स्थानपर पधारे थे । लगभग चालीस वर्षसे हमें उनके सत्सङ्ग करनेका परम सौभाग्य प्राप्त होता रहा है, जिसे स्मरण कर हृदय गद्गद हो जाता है । हमने जो आपके श्रीचरणोंमें बैठकर समय-समय-पर आपके श्रीमुखसे निकले महत्त्वपूर्ण सदुपदेश लिख लिये थे, उनमेंसे कुछ यहाँपर दिये जा रहे हैं । आशा है, पाठक इन महान् संतके सदुपदेशोंको बड़े ही ध्यानसे पढ़नेकी कृपा करेंगे । इसमें जो भी गलती रह गयी हो वह सब हमारी ही समझेंगे, पूज्यपाद महाराजश्रीकी नहीं ।

पूज्यपाद श्रीहरिबाबाजी महाराजके सदुपदेश

१—श्रीभगवन्नामकी बड़ी अद्भुत तथा विलक्षण महिमा है । श्रीभगवन्नाम ही साक्षात् भगवान् हैं । जिस प्रकार भगवान्का अवतार श्रीरामके रूपमें तथा श्रीकृष्णके रूपमें होता है, इसी प्रकार नाम भी भगवान्का स्वरूप तथा साक्षात् अवतार है । बंगालमें तो श्रीभगवन्नामको 'नामब्रह्म' कहकर पुकारते हैं । बहुत-से तो हमने ऐसे मन्दिर देखे हैं कि जिनमें श्रीठाकुरजी महाराजकी प्रतिमाकी

जगह 'नम ठाकुर'की ही पूजा होती है । नामका तत्त्व सबसे उत्कृष्ट है । भगवान्के नाममें अचिन्त्य शक्ति विद्यमान है । एक बार भी श्रीभगवन्नामका उच्चारण करनेमात्रसे ही अनन्त जन्मोंके पाप-ताप भसीभूत हो जाते हैं । नाम साक्षात् भगवान् हैं—इसमें तनिक भी संदेह मत करो और नामका सहारा लेकर सहज ही भवसागरसे पार हो जाओ ।

× × × ×

२—यह संसारी विद्या वास्तवमें असली विद्या नहीं है, जो हमें संसारके मायाजालमें फँसानेवाली है । यह तो अविद्या है । वास्तवमें असली विद्या वही है कि जो जीवके सब पापोंको दूर करके उसे भगवान् श्रीकृष्णके सम्मुख कर देती है और मायाजालसे छुड़ाकर प्रभु श्रीकृष्णसे मिला देती है ।

× × × ×

३—जो भगवान्के सच्चे भक्त होते हैं, उनकी परीक्षा होती है । इससे वह भक्त बड़े दृढ़ हो जाते हैं और प्रभुके परम कृपापात्र बन जाते हैं । छोटे भक्तोंकी छोटी परीक्षा होती है और बड़े भक्तोंकी बड़ी । बड़े भक्तोंकी परीक्षाके लिये तो उनके सामने अप्सराएँ तक भेजी जाती हैं और यदि वे उनके चक्करमें फँस गये तो मारे गये । नहीं तो वे सच्चे भक्त बन

जाते हैं। भक्तोंको कामिनी-काञ्चनसे दूर रहना चाहिये। इनके जालमें फँस गये तो फिर भक्त कैसे ?

× × × ×

४-किसी भी जीवको नीचा मत समझो, किसीका भी अपमान मत करो और अपनेको तृणसे भी नीचा समझो। जबतक हमारे हृदयमें दीनता न होगी, तबतक कुछ नहीं होगा। इस संसारमें अभिमान ही सबसे बुरी चीज है। इससे घोर अधःपतन हो जाता है। देखा गया है, बड़े-बड़े विद्वान् और पण्डित औरोंको तो श्रीभगवन्नाम-जप-कीर्तन करनेका उपदेश देते हैं, पर अभिमानवश स्वयं जप नहीं करते और कीर्तनमें चुपचाप खड़े रहते हैं। वे समझते हैं कि हम तो बड़े विद्वान् पण्डित हैं, हमें कीर्तन करके क्या करना है ? कीर्तन तो छोटे मनुष्योंका काम है। यह अभिमान उन्हें कीर्तनके महान् लाभसे वञ्चित कर देता है और घोर अधःपतन कर डालता है।

× × × ×

५-जब जीव भक्ति महारानीकी गोदमें बैठ जाता है तब सचमुच ही उसका एक प्रकारसे नया जन्म हो जाता है। भक्ति महारानीकी कृपासे उसमें अभिमानका नाम भी नहीं रहता।

× × × ×

६-श्रीभगवन्नाम-कीर्तनकी बड़ी अद्भुत विलक्षण महिमा है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने श्रीमुखसे श्रीदेवर्षि नारदजी महाराजसे कहा है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।

सद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

भगवान् कहते हैं कि 'नारदजी ! जहाँपर मेरे भक्त कीर्तन करते हैं, मैं वहींपर ही रहता हूँ।' भगवान्ने कीर्तन-प्रेमियोंके प्रति जो उदारता दिखायी है, वह अपूर्व है। जितने भी ईश्वर-प्राप्तिके मार्ग हैं, सभी ठीक हैं; परंतु कलियुगमें तो केवल मात्र श्रीहरिकी भक्ति और श्रीहरिनाम-संकीर्तन ही कल्याणका एकमात्र सरल और सर्वोत्तम साधन है।

× × × ×

७-जो इस मायासे निकल गये हैं, उनकी यही पहचान है कि वे अपना हठ नहीं रखते और बड़े सरल तथा निरभिमानी होते हैं। भगवान्के नामके प्रतापसे अभिमान उनके पास भी नहीं फटक सकता।

× × × ×

८-श्रद्धा और विश्वास ही भक्तिके प्राण हैं। श्रद्धा और विश्वासके बिना क्या होगा ? कीर्तनमें बैठकर यह

समझना चाहिये कि यहाँ कीर्तनमें भगवान् हमारे सामने बैठे हैं। नामसे ही भगवान्की प्राप्ति होगी। यह विश्वास-की बात है। नाम साक्षात् भगवान् हैं, ऐसा दृढ़ विश्वास होना चाहिये।

× × × ×

९-जो भगवान्के असली प्रेमी हैं, उनकी यह पहचान है कि यदि उन्हें क्षणभरके लिये तनिक भी भगवान्की विस्मृति हो जाय तो वे तड़प-तड़पकर अपने प्राण देने लगते हैं। इसीका नाम असली प्रेम है। जितना प्रेम एक विषयी मनुष्यका विषयोंमें होता है, उतना ही प्रेम भगवान्में हो, तभी काम बनता है। प्रेमका राज्य अति विलक्षण है और वेदकी शक्तिकी भी उसमें गति नहीं है। प्रेमकी निष्ठा अति दुर्लभ है।

× × × ×

१०-याद रखो कि जबतक तुम व्याकुल होकर प्रभुको नहीं पुकारोगे, तबतक कुछ नहीं होगा। यही एकमात्र उपाय है कि तुम रो-रोकर प्रभु श्रीकृष्णको पुकारो। वस, इसके सामने अन्य साधन कुछ भी नहीं हैं।

× × × ×

११-हमारे शास्त्र, वेद, पुराण, स्मृति—सबकी पूर्णता श्रीभगवद्दर्शनमें ही है। विद्याका मद हो जाता है, अतः विद्याके मदसे बचते रहना चाहिये। आजकलके बहुतसे पण्डित ऐसे हैं कि जो विद्वान् तो अवश्य हैं, पर उनका आचरण ठीक नहीं है। वे आचरणपर ध्यान नहीं देते हैं; सो ठीक नहीं है।

× × ×

१२-हमारे सभी वेद, शास्त्र, पुराण और हमारे सभी पूज्य ऋषि-महर्षि, साधु-संत-महात्मा यही कहते हैं और यही बतलाते हैं कि इस संसारमें दो ही चीजें पतनमें कारण हैं—पहला सङ्ग और दूसरा भोजन। कुसङ्गसे सदा-सर्वदा बचते रहना चाहिये और भोजन सात्विक करना चाहिये। कुसङ्गसे दूर रहना चाहिये तथा बढ़िया भोजन और बढ़िया कपड़ोंसे बचना चाहिये—यही कल्याणका मार्ग है।

× × ×

१३-हमारा मन जबतक शुद्ध और पवित्र नहीं होगा, तबतक हमारा कल्याण नहीं होगा। शुद्ध और पवित्र मन तब होगा, जब हमारा भोजन शुद्ध और पवित्र होगा। भोजन शुद्ध और पवित्र तब होगा, जब वह

वेईमानीके पैसेका न होकर शुद्ध कमाईका होगा और उस भोजनको बनानेवाला भी गोभक्षक और नीच हृदयका पापी, पतित नहीं होगा। व्यभिचारिणी स्त्रीके तथा रजस्वला स्त्रीके हाथका बना भोजन करनेसे और होटलोंका बना भोजन करनेसे और अंडे, मांस, मछली, प्याज-लहसुन आदि तामसिक पदार्थोंके खानेसे हमारा मन कभी शुद्ध तथा पवित्र नहीं रह सकता। मनके शुद्ध हुए बिना भजन-ध्यान नहीं बन सकता। हम भोजनके सम्बन्धमें आपको अपना अनुभव सुनाते हैं। जबतक हम बाँधपर रहे और बाँधके आसपासके गाँवोंके लोगोंकी हाथ-पैरकी मेहनतसे शुद्ध कमायीके द्वारा लाये गये अन्नकी रोटी खाते रहे, तबतक तो हमारा मन बड़ा शुद्ध, शान्त, सात्विक, पवित्र बना रहा और हमें भजन-कीर्तनमें अद्भुत आनन्द आता रहा। इसके विपरीत अब जबसे हमें शहरोंमें रहनेके कारण इन बाबू लोगोंका—सेठोंका अन्न खाना पड़ रहा है, जो आजकल प्रायः वेईमानीके कमाये धनसे बनता है, हमारा मन पहले-जैसा शुद्ध नहीं दिखलायी देता। वह अशान्त-सा रहता है और भजन-कीर्तनमें भी इसी कारण पहले-जैसा अद्भुत आनन्द प्राप्त नहीं होता। ग्रामोंकी सनातनधर्मी गरीब हिंदू जनताकी रूखी-सूखी शुद्ध कमायीकी रोटी खानेमें जो सुख है तथा विलक्षण आनन्द है और उससे जैसा भजन-ध्यान-कीर्तन होता है, मन शान्त रहता है, वह सुख, आनन्द शहरमें बड़ी-बड़ी आलीशान कोठियोंमें रहनेवाले, प्रायः वेईमानी और झूठ-छल-कपटकी कमायीसे पैसा पैदा करनेवाले सेठोंके छप्पन प्रकारके सुस्वादु भोजन करनेमें कहाँ प्राप्त हो सकता है? इसलिये जिसे अपना परम कल्याण करना हो और मनको शुद्ध, पवित्र, सात्विक रखकर भजन-ध्यानका विलक्षण आनन्द छटना हो, उसे आजकलके धनियोंका, होटलोंका और वेईमानीकी कमायीका भोजन भूलकर भी नहीं करना चाहिये। 'जैसा खावे अन्न, वैसा बने मन'—इस बातको कभी नहीं भूलना चाहिये।

× × ×

१४—भगवान् अपने भक्तोंके अधीन हैं। भगवान्को अपने भक्त जितने प्यारे हैं, उतने और कोई भी नहीं हैं। भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रीमुखसे श्रीउद्धवजीसे कहा था कि 'उद्धव! मुझे तुम्हारे-जैसे भक्त जितने अत्यन्त प्यारे हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मा शंकर, भाई बलरामजी,

अर्धाङ्गिनी लक्ष्मी तथा मेरा अपना आत्मा भी प्यारा नहीं है।' भगवान् भक्तके लिये ही लीला करते हैं। भगवान्के लिये उनके अपने प्राणप्यारे भक्त ही लीलाधार हैं।

श्रीमन्महाप्रभु गौराङ्गदेव अपनी माताजीके बड़े भक्त थे और ऐसे माताजीके अनन्य भक्त थे कि जितनी बार भी उन्हें उनकी माताजी मिलतीं तो श्रीमन्महाप्रभुजी उतनी ही बार श्रीमाताजीको पृथ्वीपर लेटकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया करते। श्रीमन्महाप्रभुजी अपनी माताजीके इतने बड़े परम अनन्य भक्त होनेपर भी माताजीसे कहा करते थे कि 'माताजी! जो भगवान् श्रीकृष्णके भक्तोंसे घृणा करता है, वह मुझे तनिक भी प्रिय नहीं है।' इसलिये भगवद्भक्तोंका भूलकर भी कभी अपमान नहीं करना चाहिये।

× × ×

१५—भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं जब बड़े ब्रह्मण्य हैं, ब्राह्मणोंके भक्त हैं तथा ब्राह्मणोंको देखते ही चरण-वन्दना करते हैं तो भला भगवान्के भक्त होकर जो पूज्य भूदेव ब्राह्मणोंको नहीं मानते और उनका अपमान करते हैं, वे भक्त कैसे हो सकते हैं, कैसे उनका कल्याण हो सकता है? भूलकर भी कभी गो-ब्राह्मणोंका अपमान नहीं करना चाहिये।

× × ×

१६—भगवान्की लीलामें भला हमें तर्क करनेकी और किसी प्रकारकी नुकताचीनी करनेकी क्या आवश्यकता है? भगवान्की लीलामें जो व्यर्थ ही तर्क करते हैं—'भगवान्ने ऐसा क्यों किया, वैसा क्यों किया?'—वे बड़ा पाप करते हैं? हम तुच्छ जीवोंको भगवान्की लीलामें तर्क करनेका क्या अधिकार है?

× × ×

१७—वर्णाश्रमधर्म आजसे नहीं, अनादिकालसे चला आ रहा है और वर्ण-व्यवस्थाको मानना बहुत आवश्यक है। वर्णाश्रमधर्मके अनुसार चलनेसे ही हमारा कल्याण होगा। वर्णाश्रमधर्मको मानते हुए भगवद्भक्ति करनेका और श्रीकृष्ण-नामामृतका पान करनेका जीवमात्रको अधिकार है। सभी पूज्य अवतारों, ऋषि-मुनियों तथा धर्माचार्योंने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार चलना बहुत आवश्यक माना है। इसलिये भूलकर भी मर्यादाके विरुद्ध नहीं चलना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने तो गीतामें

अपने श्रीमुखसे 'वर्णव्यवस्था' को मैंने बनाया है' यह घोषणा की है। जो भगवान् की बनायी हुई वर्णव्यवस्था को मिटाना चाहते हैं, वे भगवान् के भक्त कैसे हो सकते हैं ?

× × ×

१८—श्रीमन्महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेवका अवतार उस समय हुआ था, जिस समय सब लोग भगवद्भक्तों को और भक्तिको बड़ी घृणा की दृष्टिसे देखने लगे थे तथा उनको अत्यन्त तुच्छ

समझते थे। उस समय तिलक लगाना भी कठिन हो गया था। श्रीमन्महाप्रभुजीने प्रकट होकर सबको बताया कि 'भक्तिके बिना जीवका कदापि कल्याण नहीं होगा।' उन्होंने घर-घर जाकर श्रीहरिनाम-संकीर्तन की धूम मचा दी। आज भी यदि कल्याण चाहते हो तो श्रीहरिनामका सहारा लो, तभी कल्याण होगा।

बोलो सनातनधर्म की जय !

सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन

१—भगवान् के सौहार्दमें कोई शर्त नहीं है। सूर्यके प्रकाशमें कोई शर्त है क्या कि अमुक देश, अमुक जाति, अमुक योग्यताके व्यक्तिको वह प्राप्त होगा ? धनी-गरीब, विद्वान्-मूर्ख, उच्च-नीच सबके लिये वह समान प्राप्त है; शर्त केवल एक है—जो लेना चाहे, उसे प्राप्त होता है। जो दरवाजा बंद करके काले पर्दे लगा ले, उसमें सूर्यका क्या दोष है ? भगवान् का सौहार्द भी इसी प्रकार सबके लिये है, जो भी लेना चाहे। बस, विश्वास करके भगवान् के सौहार्दको लेनेके लिये उन्मुख होना चाहिये।

२—भगवान् का प्रत्येक विधान हमारे मङ्गलके लिये बन रहा है। भगवान् जितना हमको जानते हैं, हमारा किस बातमें यथार्थ मङ्गल है, इसको जानते हैं, उतना हम नहीं जानते; जितना भगवान् हमारी आवश्यकताको, हमारी सामर्थ्यको तथा हमारी आवश्यकताकी पूर्ति कब-कैसे होनी चाहिये—इसको जानते हैं, उतना हम नहीं जानते। बल्कि कभी-कभी तो हम बुद्धि-दोषसे विपरीत समझ लेते हैं। भगवान् से ऐसी भूल सम्भव नहीं। अतएव भगवान् अपने निर्भ्रान्त मङ्गलमय सौहार्दमय मनके अनुसार हमारे लिये सब व्यवस्था कर रहे हैं। पर हम अपनी समझसे सब व्यवस्था करवाना चाहते हैं, इसीसे हमें प्रतिकूलताका अनुभव होता है।

३—भगवान् पर विश्वास होनेसे दो बातें स्वाभाविक होती हैं—

१. अपने लिये कोई चिन्ता नहीं रह जाती।

२. किसी भी परिस्थितिमें भगवान् के सौहार्द-पर संदेह नहीं होता।

४—हमारा भगवान् पर पूर्ण विश्वास नहीं होता,

विश्वास होता है—अपनी सीमित, अनिश्चित तथा भ्रान्त बुद्धिकी कल्पनाके अनुसार परिस्थिति-विशेषपर। वह स्थिति न होनेपर या उसके विपरीत होनेपर हम भगवान् पर अविश्वास करने लग जाते हैं और अपने लिये चिन्तित हो जाते हैं। अतएव निश्चिन्त रहनेके लिये आवश्यक है कि भगवान् पर विश्वासको सुदृढ़ तथा सुस्थिर करें।

५—भगवान् के सौहार्दकी एक छोटी-सी मिसाल जैकिक माँ है। माँका हृदय स्वाभाविक ही अपनी संतानके प्रति स्नेहसे भरा है; वह अपने सुखका बलिदान कर बच्चेका हित करती है। माँके स्नेहको देखकर हमें विचार करना चाहिये कि भगवान् का हमारे प्रति कितना स्नेह है।

६—भगवान् हमारे सहज परम सुहृद हैं। उनके सौहार्दकी सीमा हम बाँध नहीं सकते; वह अनन्त है, अपरिशील है। प्रकृतिके जितने भी आराम मनुष्यको मिल रहे हैं, वे सब भगवान् के सौहार्दके कारण ही। भगवान् ने ही माँ-बाप, भाई-बहिन, पति-पत्नी—सबका हृदय बनाया है और इन रूपोंमें वे ही अपना यत्किंचित् स्नेह प्रवाहित करते रहते हैं। यह जान कर बस, इन रूपोंमें हम भगवान् के स्नेहकी अनुभूति करते रहें।

७—जबतक विषाद और भय हमारे मनमें आते हैं, तबतक समझना चाहिये कि हमने विषाद और भयका आश्रय ले रक्खा है, भगवान् का नहीं। भगवान् ऐश्वर्य, शान, विद्या, श्री, कीर्ति, शक्ति, सौन्दर्य, माधुर्य आदिकी अनन्त खान हैं। ऐसे भगवान् के आश्रित होनेपर हम भय और विषादके वशीभूत नहीं हो सकते तथा बुराई हमारे पास ही फटक नहीं आ सकती।

८—साधकमें तीन बातें आरम्भसे ही आ जानी चाहिये,

तभी उसकी साधना बढ़ती है और सफल होती है—श्रद्धा, तत्परता एवं संयतेन्द्रियता ।

९—श्वास जैसे मनुष्य स्वाभाविक लेता है—खाते-पीते, सोते-चलते, उठते-बैठते—यहाँतक कि लड़ते-हँसते—सब अवस्थाओंमें श्वास स्वाभाविक आता है । श्वास ही जीवन है; श्वास रुकनेपर घबराहट एवं बेचैनी हो जाती है । इसी प्रकार भजनके होनेमें स्वाभाविकता हो और छूटनेमें बेचैनी हो—वही भजन यथार्थ भजन है ।

१०—जहाँतक कोई हेतु है, अपनी चिन्ता है, भगवान्‌के विधानमें संदेह है, वहाँतक विश्वासका प्राकट्य नहीं है । विश्वासी साधकका भगवान्‌के प्रति स्वाभाविक प्रेम होता है । उसके मनमें अपने लिये किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं रहती और भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें वह प्रफुल्लित रहता है ।

११—विश्वासी भक्तका यह स्वाभाविक निश्चय होता है कि किसी भी परिस्थितिकी प्राप्ति मेरे प्रभुके नियन्त्रणके बिना होती नहीं और प्रभु मेरे अपने-से-अपने हैं । तो फिर चिन्ता क्यों और कैसी ?

१२—जिस प्रकारकी चित्तकी व्याकुल स्थिति संसारकी अत्यन्त प्रिय वस्तुके प्राप्त न होनेपर होती है, वैसी स्थिति भगवान्‌की प्राप्ति न होनेपर हो जाय तो भगवान्‌ प्रकट हो जायेंगे ।

१३—किसी भी अड़चनको भगवान्‌के सौहार्दके सामने अड़चन न माने । अड़चनको दूर करनेका हम जितना प्रयास करते हैं, उतना ही भगवान्‌के सौहार्दपर विश्वास कर लें तो, अड़चन अपने-आप दूर हो जायगी; उसे दूर करनेके लिये हमें कुछ करना नहीं पड़ेगा ।

१४—अपने आचरणोंको जान-बूझकर अशुद्ध न करे—बुराईमें प्रवृत्त न हो तथा भगवान्‌की कृपाके बलपर अपनेको किसी भी बुराईसे कभी परास्त न माने ।

१५—अपने-आप अच्छा होनेका मनुष्य जितना प्रयत्न करता है, उतना भगवान्‌पर अपने-आपको छोड़ दे तो भगवान्‌ स्वतः उसे अच्छा कर देंगे । भगवान्‌ने कहा है— 'अनन्यचेता होकर नित्य-निरन्तर मेरी सेवामें लगे रहो । जितना अच्छापन प्राप्त कर चुके हो, उसे मैं बचा दूँगा और जितना अच्छापन प्राप्त करना बाकी है, उसे मैं प्राप्त करवा दूँगा । यह भार मुझपर रहा ।'

१६—शरीरको आराम देनेकी वृत्ति और अपनी आवश्यकताएँ जितनी अधिक बढ़ती हैं, उतना ही मनुष्य अधिक दुखी होता है । भोगोंमें सुखकी धारणा, उससे भोगोंकी आकाङ्क्षा, दुःखकी प्राप्ति—यह क्रम चलता रहता है ।

१७—चार चीजें जगत्‌के भोगोंके विषयमें हमें दीखती हैं—सत्ता, रमणीयता, सुख एवं प्रेम । अर्थात् वस्तु है, परम सुन्दर है, सुखदायक है और हमसे प्रेम करनेवाली है । इन चारोंको ही संतोंने भ्रम बतलया है ।

१८—बोलनेमें मनुष्यको बड़ी सावधानी रखनी चाहिये । अधिक बोलनेवालेसे पाँच बातें स्वाभाविक होती हैं, चाहे कोई माने या न माने—(१) दूसरेकी निन्दा, (२) आत्मप्रशंसा, (३) दूसरेका अहित, (४) असत्य भाषण और (५) व्यर्थ-चर्चा ।

१९—कामकी बात बोले या रामकी बात । व्यर्थ न बोले, झूठ न बोले, दूसरेका अहित होता हो, ऐसी बात न बोले, कपटकी वाणी न बोले । इन दोषोंमें बचता हुआ कामभर बोले, बाकी समय भगवान्‌के नामका जप करता रहे ।

२०—जो जीभ सदा भगवान्‌के नामको रटती रहती है, वही जीभ है ।

२१—अपनी कल्पनाका भाव ही दुःख देता है । किसी भी प्राणी, पदार्थ, परिस्थितिसे सुखकी आशा न रखे और दूसरेको अपने अनुकूल बनानेकी चेष्टा न करके, यथासाध्य दूसरोंके अनुकूल बननेका प्रयत्न करे तो मनुष्य अपने-आप सुखी हो जायगा ।

२२—असत् साधनके द्वारा सत्की प्राप्ति नहीं होती । असत् साधन क्यों होते हैं ? इसीलिये कि असत्में हमारी आस्था है । जिनकी सत्में आस्था है, वे दरिद्र रहना पसंद करते हैं, धनी बनना नहीं चाहते । सत्के सेवनमें लगे रहते हैं ।

२३—जिसकी जगत्‌के भोगोंपर आस्था है, वह भोगोंके द्वारा भगवान्‌को खरीदना चाहता है । भगवान्‌ बाह्य वस्तुओंसे प्रसन्न नहीं होते । भगवान्‌की सेवाके लिये आवश्यकता नहीं है बाहरी पदार्थोंकी; उनकी सेवाके लिये तो हृदयका निर्मल पवित्र भाव चाहिये ।

२४—साधकका सावधान जीवन होना चाहिये; न

वह अनुकूलतामें भगवान्से सम्बन्ध छोड़े और न प्रतिकूलतामें ।

२५—किसीकी सबसे बड़ी सेवा क्या है ? उसे संसारके मोहसे छुड़ा दे और भगवान्से उसका सम्बन्ध जोड़ दे ।

२६—सच्चे भक्तके द्वारा भगवान्के प्रतिकूल साधनोंसे किन्हीं भी वस्तुओंका संग्रह नहीं होता । असत् साधनोंसे वस्तुओंका संग्रह करके हम भगवान्की पूजा करें तो वहाँ हम भगवान्को भूल जाते हैं, वस्तुका महत्त्व हमारे सामने रहता है ।

२७—साधक भगवान्में स्थित रहकर, भगवान्के साथ चित्तका योग रखकर सब काम करता है ।

२८—भोगोंमें सुखकी आशा रखनेवाला व्यक्ति न कभी सुखी हुआ है, न होता है और न कभी होगा ही ।

२९—जहाँ मनुष्य जगत्से निकलना चाहता है, समझना चाहिये, उसके जीवनका मङ्गल-प्रभात उदय हुआ है और जहाँ वह जगत्में फँसना चाहता है, समझना चाहिये, उसका दुर्भाग्य जाग रहा है ।

३०—दुःख कष्टमें नहीं होता, प्रतिकूल भावनामें होता है । माँ बच्चेके लालन-पालनमें कितना कष्ट सहन करती है, पर क्या कभी उसे दुःख होता है ? कभी वह बच्चेकी सँभाल नहीं कर पाती, बच्चेके लिये वह कष्टसे वञ्चित रह जाती है—तो उसे दुःख होता है । जीवनकी प्रत्येक स्थितिमें हम इस उदाहरणको सामने रखें तो सुखी हो सकते हैं ।

३१—हमसे कभी बुरा कर्म न बने, इसका क्या उपाय है ? भगवान्के बलका आश्रय, भूल हो जानेपर पदचात्ताप और भूल फिर न हो—इसके लिये दृढ़ निश्चय ।

३२—हम दुखी क्यों होते हैं ? संसारको मनमें भरे रखकर भगवान्की ओर जाना चाहते हैं । मनसे संसारको निकालकर भगवान्को उसमें भर लें । फिर चाहे रहें संसारमें ही, हम दुखी नहीं हो सकेंगे ।

३३—व्यवहारमें इन बातोंका ध्यान रक्खा जाय तो जीवन सुखी हो सकता है—

१-दूसरोंसे कोई आशा न रखे—परिस्थिति, प्राणी, पदार्थ किसीसे भी नहीं । और दूसरोंकी आशा यथाशक्ति सहर्ष पूरी करे ।

२-दूसरेके अधिकारोंकी रक्षा करे और अपने कर्तव्यका पालन करे । अपने अधिकार त्याग दे और दूसरोंके कर्तव्यकी चिन्ता न करे ।

३-अपने लिये न्याय वरते, दूसरेके लिये उदारता । और दूसरोंसे वही व्यवहार-वर्ताव करे, जो दूसरोंसे अपने लिये चाहता है ।

४-जीवनमें निराशा-विषादको स्थान न दे । इनको स्थान देना भगवान्का, अपने आत्माका अपमान करना है । इसके विपरीत भगवान्की कृपाके भरोसे नित्य-निरन्तर आशान्व रहें ।

५-अपने मनसे सबका हित चाहे, शुभ चाहे और यथाशक्ति हित करता रहे । दूसरोंका कभी न अहित सोचे, न करे । और कभी यह न सोचे कि कोई दूसरा हमारे प्रारब्धके बिना हमारा अहित कर सकता है ।

६-भगवान्की कृपापर विश्वास करके नित्य प्रसन्न रहे, नित्य आनन्दित रहे ।

३४—संसारमें दो ही चीजें हैं—जो है, वह भगवान् है और जो हो रहा है—वह भगवान्की लीला है । तथा लीलामय और लीला—दोनों ही एक लीलामय हैं । सारा जगत् उनमें ही उनका खेल है । इस प्रकारकी धारणा दृढ़ होनेपर साधकको सब जगह, सबमें, सब परिस्थितियोंमें, सब अनुभूतियोंमें भगवान् और उनकी लीलाके, दूसरे शब्दोंमें केवल भगवान्के ही दर्शन होते हैं और वह नित्य-निरन्तर प्रफुल्लित रहता है ।

३५—भगवान्की आवश्यकता हमारे अंदर जग जाय—यही करना है । चाहे वह सत्सङ्ग, अध्ययन, मनन, चिन्तन, जप आदि किसी भी साधनसे हो ।

३६—प्रयत्न आवश्यकताके तारतम्यसे होता है । जिसकी जितनी आवश्यकता, उसके लिये उतना ही प्रयत्न होगा । भगवान्का भजन क्यों नहीं होता ? भगवान्की आवश्यकता जीवनमें जगी नहीं ।

३७—भोगोंकी चाह, भोगोंकी अनन्त आवश्यकता तीन चीजें देती हैं—निराशा, दुःख और नरक । अतएव भोगोंकी आवश्यकताओंमें कमी करनी चाहिये ।

३८—साधक संसारकी विफलतामें भगवत्कृपाके दर्शन

करता है। उसका निश्चय रहता है कि भगवान् हमें संसारमें फँसाना नहीं चाहते। इसीसे वे हमें सफलता, सम्मान नहीं दे रहे हैं; असफलता—तिरस्कार देते हैं।

३९—एक भजन 'किया जाता' है, एक भजन 'होता' है। जो भजन 'होता' है, वह स्वाभाविक भजन है। श्वास लेनेमें कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार जब भजन जीवन बन जाता है तो वह स्वाभाविक होता है तथा उसके छूटनेपर परम व्याकुलता होती है।

४०—आवश्यकता वस्तुकी स्मृति कराती है, उसका अनुसंधान कराती है, चित्तको उसमें संलग्न रखती है। जीवनमें भगवान्की आवश्यकता जग जाय, फिर अपने-आप भजन होगा।

४१—समर्पणके तीन रूप हैं—कर्म करके भगवान्के अर्पण करना, भगवान्के लिये कर्म करना तथा भगवान्का ही कर्म करना। जब भगवान्का ही कर्म होने लगता है, तब खाना, पीना, सोना, उठना, बैठना—जीवनका प्रत्येक व्यापार भजन हो जाता है।

४२—मनुष्य-जीवनकी सफलता है—'भगवान्का अपना बन जानेमें और भगवान्को अपना बना लेनेमें।'।

४३—भगवान्की चाह उत्पन्न होनेपर जगत्के भोगोंकी चाह कम होने लगती है। यदि भोगोंसे प्रीति हट रही है, भोगोंसे राग घट रहा है, भोगोंके आने-जानेका हमारे मनपर कुछ भी प्रभाव नहीं हो रहा है तो समझना चाहिये कि भगवान्की चाह उत्पन्न होने लगी है। भगवान्की प्रीति उत्पन्न होनेपर तो जगत्की प्रीति स्वतः कम होगी ही—यह नियम है।

४४—मानव-जीवनकी असफलताके दो रूप होते हैं—'व्यर्थ-जीवन' एवं 'अनर्थ-जीवन'। मानव-जीवनमें जो परम लाभ प्राप्त होना था; अर्थात् भगवान् या भगवान्के प्रेमकी प्राप्ति; जो मानव-जीवनमें ही प्राप्त हो सकती थी—हम उससे वञ्चित रह गये; तो यह 'व्यर्थ-जीवन' हुआ। मानव-जीवनमें प्राप्त विवेक, शक्ति, ज्ञान आदिका हम दुरुपयोग करें—इन्हें भगवान्के विपरीत कार्योंमें लगावें, नये-नये पाप करें—यह 'अनर्थ-

जीवन' है। इसका परिणाम अनन्तकालतक भीषण नरकोंकी प्राप्ति है। अतएव मानव-जीवन न व्यर्थ जाय और न वह अनर्थ-जीवनका रूप ग्रहण करे—इसके लिये सतत सावधान रहना चाहिये।

४५—जिस जीवनमें भगवान्की चाह उत्पन्न हो गयी है, जिस जीवनमेंसे भोगोंकी प्रीति हटने लगी है, वह सफल-जीवन है। हमारी धारणा इसके विपरीत हो रही है।

४६—दुःख भगवान्के भेजे हुए चेतावनी देनेवाले दूत हैं कि अब भी चेत जाओ; पर मनुष्य मोहवश चेतता नहीं।

४७—हमें सब अनुकूलताएँ प्राप्त हो जायँगी और हम सुखी हो जायँगे—यह न कभी हुआ है, न कभी होगा ही। निरन्तर अभाव—यह जगत्का स्वरूप है। लीला-अवतारोंमें भगवान्ने अपनी लीलाओंद्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि अनुकूलता प्राप्त करके हम सुखी हो जायँगे—ऐसी आशा करना व्यर्थ है। अतएव इसको छोड़कर आगे बढ़ना चाहिये।

४८—त्याग-सुख, वैराग्य-सुख, आत्म-सुख, भगवत्सुख—कैसे होते हैं; इसका हमें अनुभव नहीं है। हम तो यहाँकी भौतिक अनुकूलतासे प्राप्त होनेवाले सुखमें ही रचे-पचे हैं। हम इस सुखसे ऊपर उठें और त्याग-सुख, वैराग्य-सुख, आत्म-सुख, भगवत्सुखके आनन्दको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील हों—ऐसी चेष्टा करनी चाहिये।

४९—भगवान्पर विश्वास होनेपर तीन बातें होती हैं—

(१) मनचाही वस्तु मिल जाती है या (२) मनचाही वस्तुके न मिलनेसे होनेवाला क्षोभ मिट जाता है या (३) भगवान् उस वस्तुकी चाहके स्थानपर अपनी चाह उत्पन्न कर देते हैं।

५०—'हमारे प्रेमास्पद भगवान् ऐसा ही चाहते हैं'—यहाँकी प्रत्येक प्रतिकूलतामें हम ऐसा मान लें तो फिर प्रतिकूलता रहेगी ही नहीं; प्रत्येक प्रतिकूल स्थिति हमारे लिये आनन्ददायिनी हो जायगी।

रामचरितमानसमें नीति

(लेखक—श्री जे० डी० शुक्ल, अध्यक्ष राजस्व-परिवद, उत्तर प्रदेश)

भारतीय दर्शन तथा धार्मिक ग्रन्थोंमें कभी संन्यास तथा वैराग्यको और कभी सामाजिक जीवन तथा कर्मको प्रधानता मिलती रही है। वैराग्यके साथ प्रायः निर्गुण ब्रह्म और सामाजिक जीवनमें सगुण ब्रह्मकी प्रधानता रही है। तुलसी शंकरके संन्यासके बाद धर्मको सामाजिक जीवनमें लाये। यह तुलसीका महत्त्व है। तुलसीका 'रामचरितमानस'का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है—'चारि पदार्थ भरा भँडारू।' सामाजिक जीवनके सब पहलुओंपर तुलसीकी छाप है। प्रायः श्रीरामको मर्यादापुरुषोत्तम कहा जाता है और यह ठीक ही है; किंतु वे नीति-प्रतिपालक भी हैं। वसिष्ठजी कहते हैं—

'नीति प्रीति परमार्थ स्वारथु। कोठ न राम सम जान जथारथु ॥

और फिर सुन्दरकाण्डमें—

'बोले वचन नीति प्रतिपालक।'।

रामचरितमानसमें जो नीति है, उसीपर कुछ लिखना चाहता हूँ; लेकिन कार्य इतना कठिन है कि भूमिकाके रूपमें तुलसीदासजीकी कुछ चौपाइयाँ इस संदर्भमें लिख देना चाहता हूँ; ताकि स्थिति स्पष्ट हो जाय—

निज बुधि बल भरोस मोहि नाहीं। ततें विनय करउँ सब पाहीं ॥
सूख न एकठ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राज ॥
मति धति नीच जँचि रुचि छाछी। चहिअ अभिअ जग जुरइ न छाछी ॥

किंतु विद्वानों और सज्जनोंका समाज है तो—

छमिहहिं सज्जन मोरि ठिठार्ई।

और फिर तुलसीदासके सम्बन्धमें बोल रहा हूँ—

सोइ भरोस मोरें मन आवा। केहि न सुसंग बहूपन पावा ॥

नीतिका प्रथम तथा सबसे महत्त्वशाली अङ्ग है—अच्छे-बुरे, संत-असंतकी पहिचान यानी पुरुषपरीक्षा। इस विद्याके बिना नीति नहीं बरती जा सकती। इस कारण तुलसीदासजीने विस्तारपूर्वक साधु-असाधुकी व्याख्या की है—

साधु चरित सुम चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू ॥
जो सहि दुख परछिद्र दुखावा। बंदनीय जेहिं जग जस पावा ॥
बहुरि बंदि खल गन सति मापैं। जे बिनु काज दाहिनेहु बापैं ॥
पर हित हानि काम जिन्ह करें। उजरे हरष बिषाद बसेरें ॥

हरि हर जस राकेस राहु से। पर अकाज भट सहसबाहु से ॥
जे पर दोष लखहिं सहसाखी। परहित घृत जिन्ह के मन माखी ॥
तेज कसानु रोष महिषसा। अय अवगुन धन धनी धनेसा ॥
उदय केत सम हित सबही के। कुंभकरन सम सोवत नीके ॥
पर अकाजु लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिम उपरु कृषी दलि गरहीं ॥
बंदउँ खल जस सेष सरोषा। सहस बदन वरनइ पर दोषा ॥
पुनि प्रनवउँ पृथुराज समाना। पर अय सुनइ सहस दस काना ॥
बहुरि सक्र सम बिनवउँ तेही। संतत सुरानीक हित जेही ॥
वचन बज्र जेहि सदा पिआरा। सहस नयन पर दोष निहारा ॥

और सुनिये—

पर उपकार वचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया ॥
संत सहहिं दुख पर हित लागी। पर दुख हेतु असंत अमागी ॥
भूज तखु सम संत कृपाला। परहित निति सह विपति बिसाला ॥
सन इव खल पर बंधन करई। खल कढ़ाइ विपति सहि मरई ॥
खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी ॥
पर संपदा बिनासि नसाहीं। जिमि ससि हति हिम उपरु बिकाहीं ॥
दुष्ट उदय जग आरति हेतू। जथा प्रसिद्ध अघम ग्रह केतू ॥
संत उदय संतत सुखकारी। विख सुखद जिमि इंदु तमाती ॥
संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी ॥
संत हृदय नवनीत समाना। कहा कविन्ह परि कहै न जाना ॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता ॥

और फिर—

दामिनि दमक रह न धन माहीं। खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं ॥
बरषहिं जलद भूमि निअरापैं। जथा नवहिं बुध बिद्या पापैं ॥
बूढ़ अघात सहहिं गिरि कैसैं। खल के वचन संत सह जैसैं ॥
छुद्र नदी भर चली तोराई। जस थोरैहु धन खल इतराई ॥
समिति समिति जल भरेहिं तकावा। जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा ॥

फिर और—

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहु संगति करिअ न काऊ ॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहिं धालइ हरहाई ॥
खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी ॥
जहँ कहुं निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुं परी निधि पाई ॥
काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन ॥
बयस अकारन सब काहु सों। जोकर हित अनहित ताहु सों ॥

झूठइ लेना झूठइ देना । झूठइ भोजन झूठ चबेना ॥
बोलेहि मधुर वचन जिमि मोरा । खाइ महा अहि हृदय कठोरा ॥

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपवाद ।

ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद ॥

लोभइ ओढ़न लोभइ ड़ासन । सिस्नोदर पर जमपुर त्रास न ॥
काहू की जौं सुनहिं बड़ाई । स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई ॥
जब काहू कै देखहिं विपती । सुखी भप मानहुं जग नृपती ॥
स्वारथ रत परिवार विरोधी । लंपट काम लोभ अति क्रोधी ॥
मातु पिता गुरु विप्र न मानहिं । आपु गप अरु घालहिं आनहिं ॥
करहिं मोह बस द्रोह परावा । संत संग हरि कथा न भावा ॥
अवगुन सिंचु मंदमति कामी । वेद विदूषक परधन स्वामी ॥
विप्र द्रोह पर द्रोह बिसेवा । दंस कपट जियैं धरें सुवेवा ॥

ऐसे अधम मनुज खल झूतजुग त्रेतां नाहिं ।

द्वापर कलुक बुढ़ बहु होइहहिं कलियुग माहिं ॥

और बहुत क्या कहा जाय—

खल अघ अगुन साधु गुन गाहा । उभय अपार उदवि अवगाहा ॥

तुलसीदास स्पष्टवादी हैं—कठोर स्पष्टवादी । विना झूठ-
संकोचेके असंतोंके लक्षण कहे हैं और फिर यह भी लिख
दिया है, उनकी वन्दना करनेके बाद—

मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा । तिन्ह निज ओर न लाउव मोरा ॥
बायस पक्षिअहिं अति अनुरागा । होहिं निरामिष कबहु कि कागा ॥

किंतु तुलसीदास संकेत करते हैं कि संत-असंतमें कुछ
समताएँ भी हैं, इसलिये रूखले वचना चाहिये—

बंदै संत असजन चरना । बुद्धप्रद उभय बीच कलु चरना ॥
बिलुखत एक प्राण हरि केहीं । मिलत एक दाखन दुख देहीं ॥
उपजहिं एक संग जग माहीं । जलज जोक जिमि गुन बिलगाहीं ॥
सुधा सुरा सम साधु असाधू । जनक एक जग जलावि अगाधू ॥

अच्छे और बुरे पुरुषोंकी पहिचान वेष-भूषासे न
करनी चाहिये—

तुलसी देखि सुवेषु भूलहिं मूढ़ न चतुर नर ।

सुंदर केकिहि पेषु वचन सुधा सग असन अहि ॥

और दूसरी ओर—

किपहुं कुवेषु साधु सनमानु । जिमि जग जामवंत हनुमानु ॥

तुलसीदासका मत है कि जो जैसा पुरुष है, उसको वैसा

समझकर व्यवहार करना चाहिये; मनुष्यको बदलना
कठिन है ।

खलउ करहिं भल पाइ सुसंगु । मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगु ॥
भल अनभल निज निज करतूती । लहत सुजस अपलोक विभूती ॥
गुन अवगुन जानत सब कोई । जो जेहि भाव नीक तेहि सोई ॥

भलो भलाइहि पै लहइ लहइ निचाइहि नीचु ।

सुधा सराहिअ अमरताँ गरल सराहिअ गीचु ॥

और—

फूलइ फगइ न वेत जदपि सुधा वरषहिं जलद ।

मूख हृदयें न चेत जौं गुरु मिलहिं विरचि सम ॥

इस कारण नीति कहती है कि अच्छे-बुरेकी पहिचान कर
उससे वैसा ही व्यवहार करना चाहिये । महाभारतके
ग्रान्तिपर्वमें लिखा है—

अस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्य-

स्तस्मिन्स्थथा वर्तितव्यं स धर्मः ॥

तुलसीदास खल पुरुषोंको अपनाने या बड़ाई देनेके
खिलाफ लिखते हैं—

जेहि ते नीच बड़ाई पावा । सो प्रथमहिं हति ताहि नसावा ॥
धूम अनल संभव सुनु भाई । तेहि बुझाव धन पदवी पाई ॥
रज मग परी निरादर रहई । सब कर पद प्रहार नित सहई ॥
मरुत उड़ाव प्रथम तेहि भरई । पुनि नृप नयन किरीटन्हि परई ॥
सुनु खगपति अस समुझि प्रसंगा । बुध नहिं करहिं अधम करसंगा ॥
कवि कोविद गावहिं असि नीती । खल सन कलह न भल नहिं प्रीती ॥
उदासीन नित रहिअ गुसाई । खल परिहरिअ स्वान की नाई ॥

तुलसीदास अच्छे-बुरेकी व्याख्या कर और उनके साथ
कैसा व्यवहार करना चाहिये, यह बतलाकर स्पष्ट संकेत
देते हैं कि नीतिका सुनना, पढ़ना तथा समझना आसान है;
किंतु जीवनकी परिस्थितियोंमें उसको अमलमें लाना कठिन
है—बोखा हो सकता है । बुद्धिमानोंकी यहाँ परीक्षा होती है;
नीतिके जाननेमें नहीं, बल्कि नीतिके लागू करनेमें ।

भरतका चित्रकूटको आनेका समाचार सुनकर
लक्ष्मण बोले—

विषई जीव पाइ प्रभुताई । मूढ़ मोह बस होहिं जनाई ॥
भरतु नीति रत साधु सुजाना । प्रभु पद प्रेमु सकल जगु जाना ॥
तेज आजु राम पदु पाई । चले धरम मरजाद मेटाई ॥
कुटिल कुबंधु कुअवसर ताकी । जानि राम बनवास एकाकी ॥
करि कुमंतु मन साजि समाजु । आप करै अकंटक राजू ॥

कोटि प्रकार कल्पि कुटिलाई । आप दह बटोरि दोठ आई ॥
बाँझियँ होति न कपट कुचाली । केहि सोहाति रथ बाजि गजाली ॥
भरतहि दोसु देख को जाएँ । जग बौराइ राज पहु पाएँ ॥

स्पष्ट है; लक्ष्मण बोला खा गये ।

इस पृष्ठभूमिमें मैं रामचरितमानससे कुछ नीतिके अङ्ग लेता हूँ, जो तुलसीदासने प्रतिपादित किये हैं ।

विनय न मानत जलधि जड़ गए तीनि दिन बीति ।

बोले राम सकोप तब भय विनु होइ न प्रीति ॥

लछिमन वान सरासन आनू । सोपौ वारिधि विसिख कंसानू ॥
सठ सन विनय कुटिल सन प्रीति । सहज रूपन सन सुंदर नीति ॥
ममता रत सन ग्यान कहानी । अति लोभी सन विरति बखानी ॥
क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा । ऊसर बीज बँपे फल जथा ॥

तो पहिले ही इस प्रकार क्यों नहीं किया । लक्ष्मणका मत्त था—

अंश न रह लछिमन मन भावा । राम वचन सुनि जति कुछ पावा ॥
नाथ दैव कर कवन भरोसा । सोपिअ सिंधु करिअ मन रोसा ॥
कादर मन कहूँ एक अघारा । दैव दैव आलसी पुकारा ॥
सुनत विहसि बोले सुबोरी । ऐसेहि करव घरहु मन बीरा ॥

इसमें नीति है । यदि बिना अच्छा प्रयोग किये, बिना युद्ध किये अपना लक्ष्य मिल जाय तो बलका प्रयोग न करना चाहिये और यदि बिना युद्ध किये अभीष्ट नहीं मिलता, तब भी पहिले शत्रुसे वार्ता करनी चाहिये, ताकि जब बलका प्रयोग किया जाय तो जनमत अपनी तरफ हो जाय । श्रीकृष्णका हुयेंधनसे संवाद इसका दृष्टान्त है । यही नीति भगवान् रामने रावणके दरबारमें अंगदको भेजनेमें बर्ती । साम, दाम, दण्ड, भेद—सभी नीति काममें लानी चाहिये । यही संकेत है । भगवान् ने अंगदको भेजकर सामका प्रयोग किया । दामसे सुग्रीवको अपनी तरफ किया । हनुमान् ने भेदसे और रामने लङ्काका राज्य देकर दामसे विभीषणको मिलाया । सुग्रीवके सम्यन्धमें बिना बल-प्रयोग किये भयसे अभीष्टकी सिद्धि हो गयी ।

लछिमन क्रोधवन्त प्रभु जाना । धनुष चढ़ाइ गहे कर वाना ॥

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना साँव ।

भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव ॥

दण्डसे रावणको मारा । यदि उनको नीति-प्रतिपालक कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं ।

नीतिमें आतङ्कका भी एक स्थान है । अंगदने लङ्गामें घुसते ही एक निश्चिन्त मार दिया ।

प्रभु प्रताप उर सहज असंका । रन बाँकुरा बालिसुत वंका ॥
पुर पैठत रावन कर वेठा । खेलत रहा सो होइ गै मेठा ॥
बातहि बात करप बधि आई । जुगल अतुल बल पुनि तरुनाई ॥
तेहि अंगद कहूँ लात उठाई । गहि पद पटकेउ भूमि भवाई ॥
निश्चिन्त निकर देखि भट भारी । जहँ तहँ चले न सकहिँ पुकारी ॥
एक एक सन मरमु न कहहीं । समुझि तासु वध चुप करि रहहीं ॥
भयउ कोलाहल नगर मझारी । आवा कपि लंका जेहिँ जारी ॥
अब धौ कहा करिहि करतारा । अति समीत सब करहिँ विचारा ॥
विनु पूछे मगु देहिँ दिखाई । जेहि बिलोक सोइ जाइ सुखाई ॥

कितना अच्छा चित्रण किया है; गोस्वामीजीने आतङ्कसे लाभका । शत्रुसे लड़नेसे पहिले उसका साहस (Self-confidence) कम कर देना चाहिये । यही हनुमान्जीने किया ।

अहाँ निसाचर रहहिँ ससंका । जब तेँ जारि गयउ कपि लंका ॥
निज निज गृहँ सब करहिँ विचारा । नहिँ निसिचर कुल केर उबारा ॥

रावण, जिसका मनोबल बड़ा दृढ़ था; उसे भी शंका हुई । उसने अंगदसे कहा—

तुम्हरे कटक माझ सुनु अंगद । मोसन भिरिहि कवन जोधा बदा ॥
तब प्रभु नारि विरहँ बल हीना । अनुज तासु दुख दुखी मलीना ॥
तुम्ह सुग्रीव कूलद्रुम दोऊ । अनुज हमार भीरु अति सोऊ ॥
जामवंत मंत्री अति बूढ़ा । सोकि होइ अब समराद्धा ॥
सिरिप कर्म जानहिँ नरु नीला । है कपि एक महा बलसीला ॥
आवा प्रथम नगर जेहिँ जारा । सुनत वचन कह बालिकुमारा ॥

रावणके तर्कसे यह सिद्ध होता है कि बिना विवेकके तर्कसे कोई सही सहारा नहीं । तर्क भुलावा भी कर सकता है । मन्दोदरीने कई बार रावणको समझाया तर्कसे, तर्क-हीसे रावणने खण्डन किया । तर्क दोनों तरफ चलता है; लेकिन इस बातका प्रमाण नहीं कि तर्क सही रास्ता ही बतलायेगा या सत्यको ही सिद्ध करेगा ।

शत्रुको अपना बल दिखाकर प्रभावित करना चाहिये और अपनी तथा शत्रुकी शक्तिमें २:१ अनुपात होना चाहिये; यदि ज्यादा हो तो अच्छा ।

जोजन भरि तेहिँ बदन पसारा । कपि तनु कीन्ह दुगुन बिस्तारा ॥
सो रह जोजन मुख तेहिँ ठयऊ । तुस्त पवनसुत बतिस भयऊ ॥

जस जस सुरसा बहनु बड़ावा । तासु इन कपि रूप देखावा ॥

युद्धमें जितने छल-कपटोंका प्रयोग हुआ है, उसका अध्ययन करना चाहिये, ताकि जब कोई शत्रु छलका प्रयोग करे तो शीघ्र उसको पहिचान लिया जाय और उपचार हो सके ।

निसिचरि एक सिंधु महुँ रहई । करि माया नमु के खग गहई ॥
गहई छाई सक तो न उड़ाई । पहि बिधि सदा गगनचर खाई ॥
सोई छल हनुमान कहँ कीन्हा । तासु कपटु कपि तुरतहिँ चीन्हा ॥
ताहि मारि मारुतसुत बीरा । बारिधि पार गयउ मतिवीरा ॥

मतिवीर होना चाहिये । इसके अर्थ हैं कि जो साधन जिस समय उपयुक्त हो, उसीका प्रयोग करना चाहिये ।

पुर रखवारे देखि बहु कपि मन कीन्हा विचार ।

अति लघु रूप धरौ निसि नगर करौ पइसार ॥

मसक समान रूप कपि धरी । लंकहिँ जलेउ सुमिरि नरहरी ॥

मित्रता करनेसे पहिले या भरोसा करनेसे पहिले परीक्षा करनी चाहिये । सीताने हनुमानसे कहा—

है सुत कपि सब तुम्हहिँ समाना । जातुषान अति भट बलवाना ॥

मोरें हृदय परम संदेहा । सुनि कपि प्रगट कीन्हि निज देहा ॥

कनक मूषराकार सरीरा । समर भयंकर अतिबल बीरा ॥

सीता मन भरोस तब भयऊ । पुनि लघु रूप पवनसुत लयऊ ॥

सुग्रीवने रामसे कहा—

कह सुग्रीव सुनहु रघुवीरा । बालि महाबल अति रनवीरा ॥

हुंहुंमि अस्त्रि ताल देखराण । विनु प्रयास रघुनाथ दहाण ॥

देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती । बालि बधव इन्ह मइ परतीती ॥

मित्रता भी किसी आधारपर होती है । गोस्वामीजीने अपनी यथार्थवादिता इस चौपाईमें अच्छी प्रकार दिखायी है—

सुर नर मुनि सब कै यह रीती । स्वार्थ लागि करहिँ सब प्रीती ॥

मित्रता नष्ट कर देनेका आसान उपाय भी तुलसीदासजीने लिख दिया है—

जलु पय सरिस विकाइ देखहु प्रीति कि रीति मलि ।

बिलग होइ रसु जाइ कपट खटाई परत पुनि ॥

नाश होनेका या असफल होनेका बड़ा कारण तुलसीदासजीने अभिमान बताया है—

बड़ अधिकार दच्छ जब पावा । अति अभिमानु हृदयें तब आवा ॥
नहिँ कोउ अस जनमा जग माहीं । प्रभुता पाइ जाहि मइ नाहीं ॥
यह जग विदित दच्छ गति सोई । जसि कलु संभु बिमुख की होई ॥

बालि जब युद्धकें लिये चला है, वहाँ भी गोस्वामीजीने उसकी हारका संकेत कर दिया है—

असि कहि चला महा अभिमानी । तृन समान सुग्रीवहिँ जानी ॥

भगवान्ने बालिके हारका कारण बताया—

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना । नारि सिखावन करेसि न काना ॥
मम भुज बल अश्रित तेहि जानी । मारा चहसि अधम अभिमानी ॥

अभिमानने शत्रुकी शक्तिका सही अंदाज न लगाने दिया ।

ताराने समझाया था—

सुनु पति जिन्हहिँ मिलेउ सुग्रीवा । ते द्वौ वंश तेज बल सीवा ॥
कोसलेस सुत लछिमन रामा । कालहु जीति सकहिँ संग्रामा ॥

इसी प्रकार मंदोदरीने कई बार रावणको समझाया, किंतु सब सुनकर रावण—

बिहसा नारि बचन सुनि काला । अहो मोह महिमा बलवाना ॥

सचिवका बड़ा ऊँचा स्थान है; क्योंकि वह सही मन्त्रणा देता है । राजाके पास देश, कोश, सेना तथा सचिव होते हैं । यदि पहले तीन चले जायँ, किंतु सचिव रह जाय, तो तीनों वापस आ सकते हैं । किंतु यदि सचिव न हो तो तीनों होते हुए भी चले जा सकते हैं । यही संकेत तुलसीदासने इस चौपाईमें दिया है—

तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा ॥

—और यही हुआ । हनुमान्के कारण सुग्रीवको सब कुछ वापस मिल गया । किंतु—

सचिव बैद गुर तीनि जौं प्रिय बोलहिँ भय अस ।

राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिही नास ॥

मंदोदरी रावणसे कहती है—

कहहिँ सचिव सठ ठकुर सोहाती । नाथ न पूर आव एहिँ मौती ॥
प्रिय बानी जे सुनिहिँ जे कहहीं । ऐसे नर निकाय जग अहहीं ॥
वचन परम हित सुनत कठोरे । सुनिहिँ जे कहहिँ ते नर प्रभु थोरे ॥

और—

संग तें जती कुमंत्र तें राजा । मान ते ग्यान पान तें लाजा ॥
प्रीति प्रनय विनु मद ते गुनी । नासहिँ बेगि नीति अस सुनी ॥

हली असंगमें तुलसीदासका राजनीतिमें जो मत है, उसको कहूँ। कितने संक्षेपमें और कितनी सुन्दरतासे उन्होंने कहा है—

राज धर्म सर्वस पतनोई ।

मुखिआ मुख सो चाहिपे खान पान कहूँ पक ।

पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित बिवेक ॥

कूटनीति (Diplomacy) का सबसे अच्छा दृष्टान्त विभीषणका मिलता है। श्रीरामचन्द्र कार्य करनेसे पहिले अपने मित्रोंसे सदैव सलाह माँगते हैं। यह वह प्रणाली है, जिसके प्रयोगसे उनका निश्चय दूसरोंको आलाके रूपमें नहीं दीखता, बल्कि अपना सभीका निश्चय दीखता है। इसको कहते हैं—

Participation in policy and decision making.

सुग्रीवने सलाह दी—

भेद हमार लेन सठ आवा । रखिअ बाँधि मोहि अस भावा ॥

भगवान् दूसरेको कभी गलत नहीं कहते, कहते हैं—
तुम ठीक कहते हो, लेकिन कुछ और भी खोजना है—

सखा नीति तुम्ह नीकि विचारी । मम पन सरनागत मयहारी ॥

—लेकिन आगे भगवान् संकेत करते हैं कि वही ऐसी राजनीति खेल सकता है, जो शक्तिशाली हो, कमजोर नहीं—

भेद लेन पठवा दससीसा । तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा ॥
जग महुँ सखा निसाचर जेते । लछिमनु हनइ निमिष महुँ तेते ॥
जौं समीत आवा सरनाई । रखिहउ ताहि प्रान की नाई ॥
इसको कहते हैं—

Negotiating from position of strength.

यदि दूसरेसे कुछ मदद चाहिये तो पहिले उसे कुछ दे देना चाहिये और वही देना चाहिये, जो उसे अभीष्ट हो—

विभीषणसे मिलते ही भगवान् बोले—

कहु लंकैस सहित परिवारा । कुसल कुठाहर बास तुम्हारा ॥
सुनु लंकैस सकल गुन तोरें । तातें तुम्ह अतिसय प्रिय मोरें ॥

और राज्य देते समय क्या अच्छे ढंगसे बोलते हैं—

जदपि सखा तब इच्छा नहीं । मोर दरसु अमोघ जग माहीं ॥
अस कहि राम तिलक तेहि सारा । सुमन वृष्टि नम मई अपारा ॥

और पौरन उसे सलाहकार बना लिया एवं पूछा—

सुनु कपीस लंकापति बीरा । केहि विधि तरिअ जलधि गंभीरा ॥

और अन्तमें तुलसीदासजीकी इस चौपाईकी व्याख्या कर दूँ, जिसमें उन्होंने संसारकी कठोर वास्तविकताका स्पष्ट संकेत देकर कठोर होनेकी उपयोगिता बतायी है—

टेढ़ जानि सब बंदइ काहू । बक्र चंद्र महि असइ न राहू ।

जैसा कि सब जानते हैं, चन्द्रमा वास्तवमें टेढ़ा नहीं होता, वह तो सदैव गोल है; किंतु टेढ़ा दीखता है दूसरोंको। और जबतक टेढ़ा दीखता है, तबतक ग्रहण नहीं पड़ता, जहाँ सीधा दिखा, पकड़ा जाता है। इसी प्रकार आदमीको वास्तवमें टेढ़ा या कुटिल होनेकी आवश्यकता नहीं है; किंतु दूसरोंपर यह प्रभाव रहे कि टेढ़ा है, बहुत-सी बलाएँ दूर रहेंगी। किसी कविने अच्छा कहा है कि—

सिंको बलि देते न देखा कभी,

बढ़रे बलिदानमें लाये गये ।

टेढ़ेको कटते न देखा कभी,

अब सीधे पै आरे चलाये गये ॥

बिपदारीको दूध पिलाया गया,

केचुये कटियापै लगाये गये ।

बलवान कभी न सताये गये,

बलहीन सदा कलपाये गये ॥

शिष्टाचार भी नीतिका अङ्ग है। गोस्वामीजीने शिष्टाचारका हर स्थानपर ख्याल रक्खा है। रामायण शिष्टाचार सीखनेके लिये उत्तम पुस्तक है।

किस तरह प्रणाम करना, किसको कैसा स्थान देना—
इत्यादि विषयोंपर तुलसीदासने सतर्कतासे लिखा है।

सतीको देखकर श्रीरामचन्द्रने—

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू । पिता समेत कीन्ह निज नामू ॥
और—

राम सुमंत्रहि आवत देखा । आदरु कीन्ह पिता सम लेखा ॥
गुरुका किस तरह अभिनन्दन करते हैं—

गुरु आगमनु सुनत रघुनाथा । द्वार आई पद नायउ माथा ॥
सादर अरघ देइ घर आने । सोरह भौंति पूजि सनमाने ॥
गहे चरन सिय सहित बहोरी । बोले रामु कमल कर जोरी ॥
सेवक सदन स्वामि आगमनू । मंगल मूल अमंगल हरनू ॥
तदपि उचित जनु बोल सप्रीती । पठइअ काज नाथ असि नीती ॥
प्रमुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू । भयउ पुनीत आजु यह गेहू ॥
आयसु होइ सो कौं गोसाई । सेवकु लहइ स्वामि सेवकाई ॥

और अब शैलराजका सुनिये—तुलसीदासका विवरण देखिये, पूर्णता देखिये—

शैलराज बड़ आदर कीन्हा । पद पखारि वर आसनु दीन्हा ॥
नारि सहित मुनि पद सिरु नावा । चरनसलिल सबु भवनु सिंचावा ॥
निज सौभाग्यबहुत गिरि वरना । सुता बोलि मेली मुनि चरना ॥

अब राजा दशरथको देखिये—

मुनि आगमन सुना जब राजा । मिलन गयउ लेइ विप्र समाजा ॥
करि दंडवत मुनिहि सनमानी । निज आसन बैठारिन्हि आनी ॥
चरन पखारि कीन्हि अति पूजा । भो सम आजु घन्य नहि दूजा ॥
विनिष भौंति भोजन करवावा । मुनिवर हृदय हरष अति पावा ॥

और निषादका शिष्टाचार देखिये—

यहि सुधि गुहँ निषाद जब पाई । मुदित लिप प्रिय बंधु बोलई ॥
लिप फल मूल भेंट भरि भारा । मिलन चलेउ हियँ हरषु अपारा ॥
करि दंडवत भेंट धरि आगें । प्रमुहि विलोकत अति अनुरागें ॥

और भगवान्ने क्या किया—

सहज सनेह बिवस रघुराई । पूँछी कुसल निकट बैठाई ॥

जब निषाद भरतका अभिनन्दन करने जाता है तो चूँकि वह राजा है (राम उदासीन थे) तो उनको केवल फल नहीं, बल्कि—

मीन पीन पाठोन पुराने । भरि भरि भार कहारन्ह आने ॥
मिलन साजु सजिमिलन सिंघाए । मंगल मूल सगुन सुम पाप ॥
देखि दूरि तें कहि निज नामू । कीन्ह मुनीसहि दंड प्रनामू ॥
जानि रामप्रिय दीन्हि असीसा । भरतहि कहेउ बुझाई मुनीसा ॥

तो भरतने क्या किया—

राम सखा सुनि संदनु त्यागा । चले उतरि उमगत अनुरागा ॥
गाउँ जाति गुहँ नाउँ सुनाई । कीन्ह जोहार माथ महि लाई ॥

करत दंडवत देखि रोहि भरत कीन्ह उर छाई ।

मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेनु न हृदयँ समाई ॥

भेंट भरत ताहि अति प्रीती । लोग सिंहाहिँ प्रेम कै रीती ॥

नीति कहती है—

जदपि मित्र प्रभु पितु गुरु रोहा । जाइअ विनु बोलेहुँ न सँदेहा ॥

तदपि विरोध मान जहँ कोई । तहाँ गएँ कल्याणु न होई ॥

और—

मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी । बिनहि बिचार करिअ सुभ जानी ॥

तुलसीदास जहाँ-तहाँ बहुत-से संकेत देते हैं, जैसे कि—

आरत कहहिँ विचारि न काज । सूझ जुआरिहि आपनु दाज ॥

और—

अति संघरषन जौं कर कोई । अनल प्रगट चंदन तें होई ॥

और—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी । आपद काल परिखिअहिँ धारी ॥

इस संदर्भमें सुमन्त्रने जो राजा दशरथसे कहा, वह सुनने योग्य है—

सचिव धीर धरि कह बूझु बानी । महाराज तुम्ह पंडित ग्यानी ॥

वीर सुवीर धुरंधर देवा । साधु समाजु सदा तुम्ह सेना ॥

जनम मरन सब दुख सुख भोगा । हानि लाभु प्रिय मिलन वियोगा ॥

काल करम बस होहिँ गोसाई । बरवस राति दिवस की नाई ॥

मुख हरषहिँ जइ दुख बिलखाहीं । दोउ सम धीर धरहिँ मन माहीं ॥

धीरज धरहु बिबेकु बिचारी । छाड़िअ सोच सकल हितकारी ॥

इस सब नीतिके प्रतिपालक हैं श्रीराम और उसका फल है रामराज्य । रामराज्यका बहुत संक्षिप्त वर्णन कर इस वार्ताको समाप्त करता हूँ ।

दैहिक दैविक भौतिक तापा । राम राज नहिँ काहुहि ब्यापा ॥

नहिँ दरिद्र कोउ दुखी न दीना । नहिँ कोउ अबुध न लच्छनहीना ॥

सब गुनगय पंडित सब ग्यानी । सब कृतग्य नहिँ कपट सयानी ॥

सब निदंभ धर्मरत पुनी । नर अरु नारि चतुर सब गुनी ॥

अल्प मृत्यु नहिँ कविनठ पीरा । सब सुंदर सब विरहज सरीरा ॥

क्योंकि—

सब नर करहिँ परस्पर प्रीती । चलहिँ स्वधर्म निरत श्रुति नीती ॥

बयरु न कर काहू सन कोई । राम प्रताप विषमता खोई ॥

राम भगति रत नर अरु नारी । सकल परम गति के अधिकारी ॥

गाँधी-जीवन-सूत्र

[आत्मदर्शन—मेरा लक्ष्य]

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

“...जो बात मुझे करनी है, आज ३० सालसे आतुरभावसे जिस बातकी मैं रट लगाये हुए हूँ, वह तो है—आत्मदर्शन, ईश्वरका साक्षात्कार, मोक्ष । मेरे जीवनकी प्रत्येक क्रिया इसी दृष्टिसे होती है ।.....”

गाँधी—मोहनदास करमचन्द गाँधीने ५६-५७ वर्षकी उम्रमें अपनी ‘आत्मकथा’की भूमिकामें इस बातका उल्लेख किया है । गाँधीके जीवनकी कुंजी है यह ।

वह पिपासु था आत्म-दर्शनका ।

वह साधक था ईश्वरके साक्षात्कारका ।

वह पथिक था मोक्ष-मार्गका ।

आत्मदर्शन, ईश्वरका साक्षात्कार अथवा मोक्ष ही गाँधीके जीवनका लक्ष्य था ।

यही उसके जीवनका सूत्र था ।

उसका सारा जीवन इसी एक धागेमें पिरोया था ।

वह जो कुछ करता था, केवल इसी एकमात्र लक्ष्यकी पूर्तिके लिये ।

‘आत्मकथा’ उसने लिखी, सत्यके प्रयोगोंका विवरण उलने लिखा । क्यों ? इसीलिये कि उसके इन आध्यात्मिक प्रयोगोंका पूरा लेखा जनताके सामने रहे । उसका कहना था—‘मेरा सब लेखन मेरे उपरिलिखित लक्ष्यकी ही दृष्टिसे होता है । राजनीतिके क्षेत्रमें मेरा पड़ना भी इसी वस्तुके अधीन है ।’

× × ×

भनुष्य जब जीवनको व्यापक दृष्टिसे देखने लगता है, तो उसका चिन्तन समग्रताकी दिशामें बढ़ता है । वह फिर खण्ड-खण्ड करके किसी वस्तुके बारेमें नहीं सोच सकता । सारा जीवन एक है, समग्र है, शाश्वत है । जन्म होता है, मृत्यु होती है, पर जीवनकी स्रोतस्त्रिनी अविरल गतिसे, अविच्छिन्न गतिसे सतत प्रवाहशील रहती है, तबतक, जबतक कि मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो जाती । आत्मदर्शन होनेपर, ईश्वरका साक्षात्कार होनेपर जीवनका स्वतन्त्र अस्तित्व ईश्वरके

व्यापक अस्तित्वमें विलीन होकर वह मोक्षको प्राप्त कर लेता है । फिर न आवागमनका कोई चक्र बाकी रहता है, न कोई कामना या वासना ही शेष रहती है, जो मानवको भवसागरके चक्करमें डालकर नाना प्रकारके नाच नचाये ।

× × ×

‘अनासक्तियोग’की भूमिकामें गाँधी लिखता है—

‘भनुष्यको ईश्वररूप हुए बिना चैन नहीं पड़ता, शान्ति नहीं मिलती । ईश्वररूप होनेके प्रयत्नका नाम सच्चा और एकमात्र ‘पुरुषार्थ’ है और यही आत्मदर्शन है । यह आत्मदर्शन सब धर्मग्रन्थोंका विषय है ।’

वस्तुतः विश्वके सभी धर्मग्रन्थ इसी एक लक्ष्यकी पूर्तिके लिये रचे गये हैं । सभीकी एक ही जिज्ञासा है—‘कोऽहं ? कस्त्वं ? कुत आयातः ? का मे जननी ? को मे तातः ?

‘मैं कौन हूँ ? तू कौन है ? कहाँसे आया हूँ ? कौन है मेरी माँ ? कौन है मेरा पिता ?’

मानवकी यह अनादिकालीन जिज्ञासा उत्तरोत्तर बढ़ती चलती है । दृश्य जगत्से ऊपर उठकर वह अदृश्य जगत्की ओर बढ़ती है । लोकसे परलोकके क्षेत्रमें कूदती है । जीव-जगत्से ईश्वरकी ओर अग्रसर होती है । धर्म, अर्थ, कामकी सीढ़ियोंको पार करती हुई वह मोक्षकी अन्तिम सीढ़ीपर पहुँचनेका उपक्रम करती है । विश्वके सारे धर्मोंका मूल आधार यही है ।

रमण महर्षिकी साधनाका एक ही सूत्र था—‘कोऽहम् ? मैं कौन हूँ ?’ (Who am I ?)

जो जिज्ञासु उनके पास पहुँचता, जो साधक उनके पास पहुँचता, उसे वे एक ही उपदेश देते, एक ही सूत्र बताते—‘केवल यही सोचो कि ‘मैं कौन हूँ ?’ इसीसे तुम्हारी सारी शंकाओंका समाधान हो जायगा । इसीसे तुम्हारी सारी कामनाओंका, सारी वासनाओंका क्षय हो जायगा और केवल यही जिज्ञासा तुम्हें मोक्षके मार्गपर ला खड़ा करेगी ।’

रमण महर्षिकी साधनाका श्रीगणेश भी इसी जिज्ञासासे

हुआ था। एक दिन वे कमरेमें बैठे थे। अचानक उन्हें लगा कि मैं मर रहा हूँ। यह शरीर छूट रहा है। सारे सगे-सम्बन्धी, सारा घर-परिवार, मकान, नगर, देश—सब छूट रहा है।

और अब मैं कहाँ जा रहा हूँ ? कौन हूँ मैं ? क्या यह शरीर ही मैं हूँ ? क्या यह नाम ही मैं हूँ ? क्या ये इन्द्रियाँ ही मैं हूँ ?

जिज्ञासा बढ़ती चली। तर्कपर तर्क। विचारपर विचार आते गये, जाते गये। यह अन्तर्द्वन्द्व, जिज्ञासाकी यह शृङ्खला उत्तरोत्तर तीव्र होती गयी। अनेक वर्षोंतक रमण इसी साधनामें दत्तचित्त रहे—बैठे रहे, पड़े रहे। शरीर सूखता रहा। सर्दी, गर्मी, आँधी, तूफानके थपेड़े उन्हें छगते रहे। पर वे बस, एक ही खोजमें दत्तचित्त होकर लगे रहे। एक ही प्रश्न उनके सामने था—‘मैं कौन हूँ ?’

× × × ×
यह जिज्ञासा ही तो संजीवन-झूटी है। मानव जब बाहरी भोगविलाससे विरत होकर अपने भीतर झाँकता है; अपने आपको जानने-पहचाननेकी चेष्टा करता है; तभी तो उसका वास्तविक जीवन आरम्भ होता है। आत्मा; जीवात्मा; परमात्मा; जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि; जगत्; ईश्वर; कर्म; अकर्मके सम्बन्धमें जयतक मनुष्य सोचता नहीं; गहराईसे सोचता नहीं; तबतक न तो उसका विकास सम्भव है; न उसका समाधान।

‘अनासक्तियोग’का श्रीगणेश गाँधी इसी जिज्ञासासे करता है। लिखता है वह—

‘जिज्ञासा बिना ज्ञान नहीं होता। दुःख बिना सुख नहीं होता। धर्म-संकट, हृदयमन्थन सब जिज्ञासुओंको एक बार होता ही है।’

गाँधी जब इस धर्मसंकटमें पड़ा; जब उसके मतमें जिज्ञासा विकसित होने लगी; उस हृदय-मन्थनकी वेलामें उसने सोचना शुरू किया कि ‘आत्मा क्या है ? परमात्मा क्या है ? धर्म क्या है ? सत्य क्या है ? आत्मसाक्षात्कार कैसे हो सकता है ? ईश्वर क्या है ? उसकी प्राप्तिके साधन क्या हैं ?’

बरसों चलता रहा उसका यह हृदय-मन्थन। उसी जिज्ञासा-कालमें उसने विभिन्न धर्मोंका, धर्मग्रन्थोंका अध्ययन किया। संतों और सत्पुरुषोंके सत्सङ्गका; उनसे प्रश्नोत्तरका आयोजन किया।

× × × ×

सितम्बर सन् १८८८ में गाँधी बैरिस्टरीकी शिक्षा प्राप्त करनेको विलायतके लिये रवाना हुआ। विलायतका यह प्रवास ही गाँधीकी धर्म-जिज्ञासाका आरम्भ माना जा सकता है। ‘आत्मकथा’ में उसने लिखा है कि “उसके पहले उसने गीतातक नहीं पढ़ी थी। विलायत पहुँचनेके एक साल बाद दो थियासीफिस्ट मित्रोंने उससे कहा कि “हमलोग सोएडविन आर्नल्ड’का गीताका अनुवाद पढ़ रहे हैं; तुम भी हमारे साथ संस्कृतमें गीता पढ़ो।”

गाँधीको बड़ी शर्म लगी। उसने कहा कि ‘मैंने अभीतक गीता पढ़ी ही नहीं। संस्कृत भी मुझे नहीं आती। पर मैं उसे आपलोगोंके साथ पढ़नेको तैयार हूँ।’

गाँधीने गीता पढ़नी शुरू की। गीताके अमूल्य रत्न जब एक-एक कर उसकी दृष्टिमें पड़ने लगे तो वह मुग्ध हो उठा उसपर। दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञके लक्षणोंमें—

‘ध्यायतो विषयान्पुंसः’ वाले दो श्लोकोंने तो गाँधीके मन-पर बहुत ही ज्यादा असर किया। लिखता है गाँधी—

‘इन श्लोकोंकी मनक मेरे कानमें गूँजती ही रही। उस समय मुझे लगा कि भगवद्गीता अमूल्य ग्रन्थ है। यह मान्यता धीरे-धीरे बढ़ती गयी और आज तत्त्वज्ञानके लिये मैं उसे सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ। निराशाके समयमें इस ग्रन्थने मेरी अमूल्य सहायता की है।’

तभीसे गाँधीने थियासोफीके अनेक ग्रन्थ पढ़ने शुरू किये। ईसाई मित्रोंके आग्रहपर बाइबिलका पुराना इकरार (Old Testament) नया इकरार (New Testament) पढ़ा। ‘गिरिप्रवचन’ (Sermon on the Mount) का गाँधीपर बड़ा असर हुआ। कार्लाइलकी ‘हीरोज एण्ड हीरो’ वर्शिप-जैसी धर्माचार्योंकी जीवनियाँ पढ़ीं।

यों गाँधीमें धर्म-जिज्ञासा बढ़ने लगी।

वह विलायतसे बैरिस्टर बनकर भारत लौटा तो डाक्टर मेहताने कवि रायचन्द्र अथवा राजचन्द्र भाईसे उसका परिचय करा दिया। गाँधीने स्वीकार किया है कि उसके जीवनपर गहरा प्रभाव डालनेवाले तीन व्यक्ति हैं—

रायचन्द्र भाई, टालस्टाय और रस्किन। टालस्टायकी ‘वैकुण्ठ तेरे हृदयमें है’ और रस्किनकी ‘अन्टू दिस लास्ट’ (Unto This Last) पुस्तकोंने गाँधीको भावनात्मक-

रूपसे प्रभावित किया, पर रायचन्द्र भाईका तो उसे सजीव सम्पर्क मिला ।

× × ×

गाँधीपर रायचन्द्र भाईकी शतावधानताका विशेष असर नहीं हुआ । असर हुआ उनकी आत्मदर्शनकी तीव्रताका । गाँधी लिखता है—

‘मुझे मुग्ध करनेवाली वस्तु थी रायचन्द्र भाईका व्यापक शास्त्रज्ञान, उनका उत्कट उत्साह । मुझे पता चला कि वे आत्मदर्शनके लिये ही अपना जीवन बिता रहे थे । मुक्तानन्दका यह वचन उनकी जीभपर तो था ही, पर वह उनके हृदयमें भी अङ्कित था—

हँसता रमतां प्रगट हरि देखूँ रे,
मारूँ जीव्युं सफल तब लेखूँ रे ।
मुक्तानन्दनो नाथ बिहारी रे,
ओघा जीवन जोरी गहारी रे ॥

‘तभी मैं मानूँगा कि मेरा जीवन सफल है, जब हँसते-खेलते हर काममें मुझे हरिके प्रत्यक्ष दर्शन होंगे । मुक्तानन्द कहते हैं कि मेरे स्वामी तो भगवान् ही हैं और वे ही मेरे जीवनकी डोरी हैं ।’

‘रायचन्द्र भाई स्वयं हजारोंका व्यापार करते, हीरे-मोती-की परख करते, व्यापारकी समस्याएँ सुलझाते, पर यह सब उनका विषय नहीं था । उनका विषय, उनका पुरुषार्थ तो था—आत्मपरिचय—हरि-दर्शन । उनकी गद्दीपर दूसरी कोई चीज हो या न हो, पर कोई-न-कोई धर्म-पुस्तक और डायरी तो अवश्य रहती थी । व्यापारकी बात समाप्त होते ही धर्मपुस्तक अथवा डायरी खुलती थी । जो मनुष्य लाखोंके लेन-देनकी बात करके तुरंत ही आत्मज्ञानकी गूढ़ बातें लिखने बैठ जाय, उसकी जाति व्यापारीकी नहीं, बल्कि शुद्ध ज्ञानीकी है । उनका ऐसा अनुभव मुझे एक बार नहीं, कई बार हुआ था ।’

× × ×

गाँधीका धार्मिक-मन्थन चलता रहा । उधर बेकर-जैसे ईसाई मित्र उन्हें ईसाईधर्मके लिये ललचा रहे थे, इधर अब्दुल्ला सेठ-जैसे मित्र उसे इस्लामकी ओर खींचनेके लिये प्रयत्नशील थे । हिंदूधर्मकी वर्तमान घुटियाँ भी उसकी आँखोंके सामने तैरती रहती थीं । गाँधीने अपनी ये कठिनाइयाँ

रायचन्द्र भाईके सामने रखीं । उन्होंने गाँधीको लिखा कि—‘तुम धीरज रखो और हिंदूधर्मका गहरा अध्ययन करो ।’ उनके एक वाक्यका भावार्थ यह था—‘निष्पक्ष भावसे विचार करते हुए मुझे यह प्रतीति हुई है कि हिंदू-धर्ममें जो सूक्ष्म और गूढ़ विचार हैं, आत्माका निरीक्षण है, दया है, वह दूसरे धर्मोंमें नहीं है ।’

रायचन्द्र भाईने ‘पंचीकरण’ ‘मणिरत्नमाला’, योगवासिष्ठका ‘मुमुक्षु प्रकरण’, हरिभद्र सूरिका ‘षड्दर्शन-समुच्चय’ आदि पुस्तकें भी गाँधीके पास भेजीं ।

गाँधीने विभिन्न धर्मोंका अध्ययन किया । हिंदूधर्मका भी जमकर अध्ययन किया ।

परिणाम ?

गाँधीको धर्म बदलनेकी कोई आवश्यकता नहीं रह गयी । हिंदी ‘नवजीवन’में उसने एक दिसम्बर १९२७ को लिखा—‘अगर हिंदूधर्म मेरे सहारेको नहीं आता तो मेरे लिये आत्महत्याके सिवाय और कोई चारा ही नहीं होता । मैं हिंदू इसीलिये हूँ कि हिंदूधर्म ही वह चीज है, जो संसारको रहने लायक बनाता है ।’

७ अप्रैल १९३२ के ‘हरिजन सेवक’ में गाँधी लिखता है—

‘मेरी दृष्टिमें ब्राह्मण-धर्मका दूसरा नाम हिंदूधर्म है । ब्राह्मण-धर्मका अर्थ है—‘ब्रह्मज्ञान’ । इसलिये ब्राह्मण-धर्म उस ज्ञानका नाम है, जिसके द्वारा मनुष्यको ईश्वर-दर्शन अथवा आत्मदर्शन होता है । यदि मेरा यह आशय न होता, तो मैं हिंदूधर्मका आश्रयी कभी न रहता ।’

× × ×

विभिन्न धर्मोंके गूढ़ अध्ययनने गाँधीको सर्वधर्म-समादरकी दिशामें प्रेरित किया । धर्मके मूलत्वकी ओर उसे अग्रसर किया । वह लिखता है—

‘अपने दीर्घ अध्ययन और अनुभवके बाद मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि (१) सब धर्म सच्चे हैं; (२) सब धर्मोंमें कुछ-न-कुछ भूल है और (३) सब धर्म मुझे लगभग उतने ही प्रिय हैं, जितना मेरा अपना हिंदूधर्म है जिस प्रकार सारे मानव-प्राणी मेरे लिये अपने निकट सम्बन्धियोंके जैसे ही प्रिय होने चाहिये । दूसरे धर्मोंके लिये

मुझे वैसा ही पूज्यभाव है, जैसा मेरे अपने धर्मके लिये है। इसलिये धर्म परिवर्तनका विचार करनेकी कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती।'।

मानव जय इस स्तरपर पहुँच जाता है तो उसकी सारी संकीर्णता समाप्त हो जाती है। वह सभी धर्मोंका पुजारी बन बैठता है। गाँधी इस स्थितिको जय पहुँचा तो वह कहने लगा—

‘मेरे लिये जगत्के विभिन्न धर्म एक ही उद्यानके सुन्दर पुष्प हैं या एक ही विशाल वृक्षकी शाखाएँ हैं। इसलिये वे समान रूपमें सत्य हैं। यद्यपि उनकी प्रेरणा ग्रहण करनेवाले और उनका अर्थ लगानेवाले मनुष्य हैं, इसलिये वे सब समानरूपसे सम्पूर्ण भी हैं।’

(हरिजन ३०।१।३७)

× × ×

गाँधीने जब धर्मोंकी इस रंग-विरंगी फुलवारीके नाना प्रकारकी सुगन्धवाले पुष्पोंकी महक ली तो उसका जीवन पूर्णसे पूर्णतरकी ओर अग्रसर होने लगा। वह कहने लगा—

‘धर्मसे मेरा अभिप्राय औपचारिक धर्म या रूढ़िगत धर्मसे नहीं है, प्रत्युत उस धर्मसे है, जो सब धर्मोंकी बुनियाद है और जो हमें अपने सर्जनहारका साक्षात्कार कराता है।’

धर्मके इस मूलतत्त्वकी अनुभूति होनेकी देर है कि मनुष्यके जीवनका लक्ष्य ही बन जाता है—आत्म-दर्शन।

पर यह आत्म-दर्शन है क्या ?

परमात्माका यह साक्षात्कार है क्या ?

उसका साधन क्या है ?

आत्मशुद्धि ही इसका एकमात्र साधन है और घट-घटमें प्रभुका दर्शन करना ही आत्मदर्शन है और यही है—परमात्माका साक्षात्कार।

गाँधी लिखता है—‘व्यापक सत्यनारायणके प्रत्यक्ष दर्शनके लिये जीवमात्रके प्रति आत्मवत् प्रेमकी परम आवश्यकता है। बिना आत्मशुद्धिके जीवमात्रके साथ ऐक्य सध ही नहीं सकता। आत्मशुद्धिके बिना अहिंसा-धर्मका पालन सर्वथा असम्भव है। अशुद्ध आत्मा परमात्माके दर्शन करनेमें असमर्थ है। अतएव जीवन-मार्गके सभी क्षेत्रोंमें शुद्धिकी आवश्यकता है।’

‘मैं प्रतिक्षण यह अनुभव करता हूँ कि शुद्धिका यह मार्ग विकट है। शुद्ध बननेका अर्थ है—मनसे, वचनसे और कायासे निर्विकार बनना, राग-द्वेषादिसे रहित होना।’

× × ×

गाँधीने जीवनके अन्तिम क्षणतक आत्मशुद्धिका यह प्रयत्न अविरत गतिसे जारी रखा। हम भी यदि गाँधीके चरणचिह्नोंपर चलना चाहते हैं और अपने जीवनको सार्थक करना चाहते हैं तो उसका एकमात्र साधन है—आत्मशुद्धि।

आइये, आत्मदर्शनके लक्ष्यको सामने रखकर हम भी इस दिशामें आगे बढ़नेके लिये जी-जानसे जुट जायँ। सत्ययज्ञ कभी व्यर्थ नहीं जाता।

‘न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।’

(गीता ६।४०)

महर्षि रमणका आदर्श अपरिग्रही और अयाचकवृत्ति

महर्षि रमण असीम अपरिग्रही और पराकाष्ठाकी अयाचक-वृत्तिके निष्ठावान् पुरुष थे। वे शरीरपर वस्त्र धारण नहीं करते। केवल एक कौपीन धारण करते थे, वह भी अपने लिये नहीं, लौकिक मर्यादाकी रक्षाके लिये।

एक बार उनकी कौपीन बहुत जीर्ण होकर फट गयी। अयाचक-वृत्तिके कारण, बिना ही माँगे अपने-आप कोई दूसरी कौपीन न दे दे, तबतक उसीसे काम चलाना था। पर फटी कौपीन धारण करनेसे मर्यादा-भङ्गका भय था। उन्होंने कौपीनको सी कर जोड़ लेनेका निश्चय किया। पर इसके लिये सूई-डोरा कहाँसे आता ? वह भी किसीसे माँगना ही पड़ता। उन्होंने सोचा, किसीसे सूई-डोरा ही माँगें तो फिर कौपीन ही क्यों न माँग लें। पर इतनेमें ही उन्हें एक उपाय सूझ आया। उन्होंने वस्त्रकी एक शूल लेकर उसकी सहायतासे दूसरी शूलमें छेद किया, फिर कौपीनमेंसे ही धागे निकालकर उन्हें बँटकर डोरा बनाया। उस डोरेको शूलके छेदमें पिरोकर फटी कौपीनको सी लिया। इस प्रकार बिना माँगे, दूसरी लँगोटी न मिलनेतक उन्होंने उसी फटी-पुरानी कौपीनसे सुखपूर्वक काम चलाया।

अपरिग्रह और अयाचक-वृत्तिका कितना आदर्श उदाहरण है।

नीललोहित

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

‘रुद्राणां शंकरश्चास्मि’ (गीता १० । २३)

‘रुद्राणां नीललोहितः’ (श्रीमद्भा० ११ । १६ । २३)

गीताके दशम अध्यायके ‘विभूतियोग’ तथा श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके ‘विभूतियोग’के वक्ता तो एक ही हैं श्रीकृष्णानन्द, तब इसका अर्थ है कि रुद्रोंमें नीललोहित रुद्र शंकर हैं और वही प्रमुख हैं ।

‘नीललोहित’—उग्रतम तामस—इतना लाल जो काला पड़ने लगा हो; यह वर्ण उनका ही है जो कर्पूरगौर हैं और यह नीललोहित ही शंकर—कल्याणकारी हैं । जीवका परम कल्याण ही उनका स्वरूप है ।

‘नीललोहित शंकर’ ध्यान करता हूँ तो ध्यानमें क्या आता है ? कोटि-कोटि रोगोंके परमाधिदेवका रूप; और बड़ा उग्र—बहुत भयानक दीखता है यह रूप । जैसे प्राण काँपते हैं ।

रुद्र—रुलनेवाले ये देवता; और इनके भी एकादश रूप हैं । रोग, शोक, चिन्तादिके भेदसे जीवको संतप्त करनेवाले—रुलनेवाले कारणोंके ये अधिदेवता ।

प्रचण्ड ज्वालमालाकृत त्रिशूल, भभकते त्रिनेत्र, खड़खड़ती मुण्डमाला और कराल दाढ़ें । अपने शत-सहस्र गणोंसे अनुगत होते ये जैसे निरन्तर आप्तातोयत ही रहते हैं और इन एकादशमें भी नीललोहित—रोगोंके अधिदेव ! सर्वाधिक उग्र, सर्वतः संचारी इनके प्रचण्ड चरण; और कन्हार्ई कहता है कि ‘वह नीललोहित है !’

कृष्ण होगा नीललोहित ! उसका वह विराट् रूप देखकर धनंजय काँपने लगे थे । उनकी विग्नी बँध गयी थी । वे कहने लगे थे—

‘दिशो न जाने न लभे च शर्म’ (गीता ११ । २५)

श्याम कहता है, कह सकता है—‘फालोऽस्मि’; किंतु मयूरमुकुटी कहीं कराल होता है ! तब यह भगवान् नीललोहित—इनका यह रूप ?

‘रुद्राणां शंकरश्चास्मि’

ये नीललोहित तो शंकर हैं—भोले बाबा हैं । इनको दूरसे देखनेपर ही ये ऐसे उग्र दीखते हैं । समीप जानेका

साहस नहीं होगा तो प्राण काँपते रहेंगे । हमारे-आपके प्राण भयकातर होते हैं तो क्या आश्चर्य, प्राण तो थरथरते हैं सृष्टिकर्ता तकके ।

बड़ा नटखट है बाबा नन्दका लाला । यह डरानेपर उतर आता है तो फिर पूछिये मत । नृसिंह बनकर प्रकट हुआ । एक तो सिंह, ऊपरसे दैत्यराजका पेट फाड़कर आँतोंकी माला गलेमें डाल ली । पंजे, वक्ष, ग्रीवाकी केसर-सटा सब रक्तसे लथपथ और ऊपरसे अंगार-नेत्रोंसे इधर-उधर देखते हुए क्षण-क्षणमें वज्रनिष्ठुर गर्जन । देवताओं और ब्रह्माजीकी बात छोड़िये, समीप आनेका साहस नहीं हुआ सदा सेवामें रहनेवाले भगवान् नारायणके पार्श्वदोंका । लक्ष्मीजीने तनिक साहस किया तो आपने ‘घुर’ करके डरा दिया उन्हें । वे भी भाग खड़ी हुई ।

ये अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड और इनके ये असंख्यासंख्य प्राणी—जो एक इतने अभिनय कर सकता है, इतने रूप बना सकता है, वह डरानेवाला स्वाँग ले बैठे—किसकी छातीमें मनभरका हृदय है कि वह धुक-पुक नहीं करने लगेगा !

‘भयानां भयं भीषणं भीषणानाम् ।’

सब ठीक; किंतु कन्हार्ई तो कन्हार्ई ही है । वही सुकुमार, वही करुणावरुणालय । उसका स्वाँग चलता तबतक है, जबतक आप दूर खड़े उसे देखते हैं—देखते हैं और भयसे काँपते हैं ।

प्रह्लादने अभिनीत रूपको नहीं देखा । वे सीधे गये और सम्मुख प्रणिपात किया उन्होंने—वस ! वही रक्ताक्त वक्ष, वही आन्त्रमाल; किंतु भगवान् नृसिंहके अङ्गार-नेत्र सजल हो गये । उनका गर्जन-तर्जन लुप्त हो गया । घुर वे किस कण्ठसे करते ? कण्ठ तो वात्सल्य-गद्गद हो गया क्षणार्धमें । प्रह्लादको गोदमें बैठकर जिह्वासे लगे चाटने ।

आप स्वाँगको नहीं देखते और दूसरी सब ओरसे नेत्र बंद करके समीप पहुँच जाते हैं—स्वाँगका रूप भले बना रहे, कन्हार्ई मुस्कराये बिना रह नहीं सकता । उसका अनन्त वात्सल्य उसे उग्र बने नहीं रहने देगा । वह आपके लिये वही परम सुकुमार, परम सुन्दर, अनन्त दयासागर दीखेगा ।

‘बाबा ! तुम रुद्र हो ? भयानक हो ! डराते हो बच्चेको ?’ भगवान् नीललोहितका ध्यान करके, उनके श्रीचरणोंपर हाथ रखकर पूछिये तो सही ।

पूछिये—उनकी खड़खड़ाती मुण्डमालासे, उनके लपटें उगलते नेत्रोंसे, उनके त्रिशूलसे और फुंकार मारते सर्पोंसे डरिये मत !

‘ठहरो तुम सब ! तुम मुझे डरा नहीं सकते, मैं बाबाके चरणोंतक जा रहा हूँ ।’ वेखटके आप भूत-प्रेतोंको डाँट दे सकते हैं । कोई कुछ नहीं करेगा, कुछ नहीं कहेगा ।

‘ये भूत-प्रेत’ आज आप इनको विष या विषाणु कह लें—बड़े भयानक हैं—देखनेमें । बड़े विनोदी हैं ये । लोगोंको डरा देना इनका विनोद है; किंतु आप बाबाका नाम लेकर इन्हें डाँट दें तो—ये आपके लिये मार्ग उन्मुक्त कर देंगे । इतना ही नहीं—आपका सम्मान करने, आपके लिये सुविधा प्रस्तुत करनेमें इन्हें विनोद प्राप्त होने लगेगा ।

‘बाबा ! बच्चेको डराते हो तुम ?’ पूछकर देखिये तो सही ।

बाबा भोलेबाबा हैं । उनका एक ही उत्तर सुन पड़ेगा आपको—‘वत्स, तुझे किसीने भ्रममें डाल दिया है । मैं तो शंकर हूँ । मुझे तो केवल कल्याण ही करना आता है ।’

शंकर और रुद्र—जो दूर हैं, जो विमुख हैं, उनको उनकी विमुखता रुलाती है और वे कहते हैं कि—‘शिव रुद्र हैं ।’

जो ‘आनन्द’ से विमुख होगा—निरानन्द, दुःखके अतिरिक्त उसे क्या मिलेगा ?

जो ‘चित्’ से—ज्ञानसे दूर रहेगा—मूर्खताके अतिरिक्त उसके पल्ले और कुछ पड़ना है ?

जो ‘सत्’ से दूर जायगा असत्ता-विनाश, मृत्युका मार्ग ही तो चुना है उसने ।

‘सच्चिदानन्द’ से विमुख होकर—दूर हटकर देखनेपर लगता है, वह नीललोहित है, तमस् है, अन्धकार है और रुद्र है—बहुत रुलानेवाला है, यड़ा भीषण है ।

कौन भीषण है—शंकर ? भला कहीं शंकर भीषण होते हैं ? उन्हें रुद्र तो बनाती है अपनी विमुखता, अपना उनसे दूर खड़े रहना ।

मुझे स्मरण आता है—पैरमें गीली दाद (एक्जिमा) हो गयी थी । बहुत दवाईयाँ लगायीं । कई बार जलाया कई तीव्र ओषधियोंसे; किंतु कुछ लाभ नहीं हुआ । ओषधि लगाता तो वह दाद मिट-सी जाती और फिर ब्यों-क्री-

त्यों । सहसा ज्वर आ गया । कई दिन तीव्र ज्वर रहा । उस ज्वरके तापमें, वह दाद भस्म हो गयी । ज्वर गया, तब कई दिन पीछे ध्यान गया कि दादका तो चिह्न भी नहीं रहा है ।

संधिस्थानपर नासूर हो गया । कई महीने उसने तंग किया । परिस्थिति ऐसी नहीं थी कि कोई ठीक चिकित्सा करा सकता । मुझे जो कुछ आता है, करता रहा । अचानक ज्वर आने लगा और बहुत दिनोतक आता रहा । लंबी बीमारी चली । जब स्वस्थ हुआ—पूरा स्वस्थ हो गया । नासूर कब ठीक हो गया, इधर ध्यान ही नहीं जा सका ज्वरके वेगमें ।

हम-आप बच्चे ही तो हैं । बहुत उत्पात करते हैं हम-लोग । मुझे कोई खेद नहीं है । बच्चा क्या, जो उत्पात न करे । मुँह फुलकर गुमसुम बैठना हो तो आप बच्चे नहीं—फिर तो आप ऋषि-मुनि, साधु-महात्मा । और ऐसे बड़े लोगोंको तो मैं प्रणाम ही कर सकता हूँ ।

बच्चा तो उत्पात करेगा ही । बाबा दण्ड देगा ! दण्ड देनेके लिये वह रुद्र है ? दण्ड देनेके लिये उसके करोंमें त्रिशूल है ? जो ऐसा समझे—वज्रमूर्ख है वह ।

बाबा रुद्र है—बच्चोंको तनिक धमका देनेके लिये । उसने थोड़ी भौंहें चढ़ा ली हैं तो हो क्या गया ? त्रिशूल तो उसके हाथमें है उनके लिये, जो उसके चरणाश्रितों—उसके बच्चोंको छेड़नेका मन करते हैं ।

बच्चे उत्पात करते हैं—असंयम करते हैं । शरीरमें कीचड़-गोबर पोत लेते हैं और मनमें भी जाने क्या क्या भर लेते हैं । बाबा बच्चोंके उत्पातपर मनमें हँसते हैं । उन्हें भूत-प्रेतोंसे घिरे रहनेका अभ्यास है । उनकी शान्ति ढूँढ़नेवाली नहीं है । उनके भीतर क्षोभ नहीं हुआ करता ।

बच्चोंको स्नान तो कराना पड़ेगा । जो अपने बच्चे हैं, उनकी स्वच्छताका दायित्व भी तो अपना है । बच्चे उत्पात करें—गंदे बनें, यह उनका स्वभाव और बाबा उनको स्वच्छ करनेकी व्यवस्था करता रहे, यह बाबाका स्वभाव ।

स्नान करानेमें—अन्तर्बहिः स्वच्छ करनेमें बालकको कष्ट होता है । वह रोता है । उसे गोबर-कीचड़से स्नेह हो गया है । उससे वञ्चित किये जानेपर वह दुखी होता है ।

बाबा रुद्र है, वह रुलाता है, यह बालककी दृष्टि है । बाबा भयंकर है, वह डाँटता है—ऐसा शिशुको लगता है ।

बाबा शंकर है, यह तथ्य है। यह बाबाका स्वरूप है। यह उस नीललोहितका स्वभाव है। यह अनुभूति है, जो बाबाके समीप जाकर उसके श्रीचरणोंको स्पर्श करके, उसके श्रीमुखकी ओर दृष्टि उठा पाता है उसकी।

नीललोहित—यह दूरीसे हुआ दिग्भ्रम है। दिवाकर आपको प्रभातमें सर्वथा अरुण नहीं दीखता ? दूरीका यह दिग्भ्रम मिट जायगा समीप जानेपर। वह तो वहीं—‘कुन्द-इन्दु दर गौर सुन्दर’ है।

मेरे एक मित्र कहते हैं—‘तुम यह कभी श्रीकृष्ण और कभी शिवकी बात क्यों करते हो ? श्रीराम एवं श्रीकृष्ण एक हैं—यह तो ठीक। तुम भगवान् नारायण तककी बात करो तो भी समझमें आवे; किंतु तुम कैलास क्यों कुद जाया करते हो ?’

आपको इन मित्रकी बातमें कुछ तथ्य लगता है क्या ?

भगवान् शिवकी अष्टधा मूर्ति है और गीतामें श्रीकृष्ण अष्टधा प्रकृतिको अपनी मूर्ति कहते हैं। विष्णुसहस्रनामका पहिला नाम है—‘विश्वं’ और भगवान् शंकरका नाम है—‘भव।’ जब शरीर एक है—विराटरूप एक है तो व्यक्तित्व दो हो जायगा क्या ?

‘कालोऽस्मि’ कहनेवाला और नीललोहित बनकर विशूल उठाकर उद्दाम ताण्डव करनेवाला एक ही है—इसमें आपको कोई विकल्प लगता है ?

जब वह मयूरमुकुटी बनता है—उसे कन्हाई कहना अच्छा लगता है। जब वह त्रिनयन गङ्गाधर होता है—‘बाबा’ बन जाता है। लेकिन उसे अपना बनाये रखिये। समीप रहिये तो वह शंकर है, दूरसे देखेंगे तो वह रुद्र ही दीखेगा।

वे विचित्र फूल ! अद्भुत मादक गन्ध !!

[पौराणिक कहानी]

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेश्वर, एम० ए०, पी०एच० डी०)

(१)

‘खट् ! खट् ! खट् !’

जंगलकी इस तपती दुपहरीमें यह लकड़ी काटनेकी आवाज कहाँसे आ रही है ? यह लकड़ियाँ कौन काट रहा है ? खट् खट् खट् !

ग्रीष्मऋतुका झुलसानेवाला समय है। आकाशसे जैसे आग बरस रही है। गरमीके कारण जंगलमें आसपास मनुष्य-पशु-पक्षी कोई नजर नहीं आ रहा है। पास चलकर देखें, इस अग्नि-जैसी धूपमें कौन लकड़ियाँ काट रहा है ? विश्रामके समय कौन श्रम कर रहा है ? इस भीषण गरमीमें भी इसे चैन नहीं। अजीब व्यक्ति है यह !

अरे ! यह तो एक वृद्ध है। श्वेत लंबी दाढ़ी, चेहरेपर झुर्रियाँ, शरीर अस्थिपंजरवत्, जैसे मांस ही हड्डियोंपर चिपका हुआ हो। दुर्बल होते हुए भी यह पेड़पर चढ़ा हुआ है और कुल्हाड़ी मार-मारकर ‘खट् खट्’ वृक्षसे लकड़ियाँ काट रहा है। पसीनेसे लथपथ है। पर यह सब होनेपर भी इसका चेहरा मानो दिव्य तेजसे चमचमा रहा है।

जंगलकी नीरव शान्तिमें उस ‘खट् खट्’की कर्कश ध्वनि दूरसे ही सुन पड़ती है।

यह तो कोई साधु मादूम होते हैं, गेरुआ वस्त्र धारण किये हुए हैं। गलेमें रुद्राक्षकी माला है। फकीर-सी वेश-भूषा है इनकी। लीजिये, पहिचान लिया इन्हें। अरे ! ये तो महर्षि मतङ्ग हैं। महर्षि पेड़पर चढ़े आज स्वयं ही कुल्हाड़ीसे लकड़ियाँ काट रहे हैं। यह खट्-खट्की ध्वनि उन्हींकी कुल्हाड़ीसे तो आ रही है।

महर्षि मतङ्ग ! ज्ञान और तपस्याके मूर्तिमान् आदर्श ! वह महर्षि मतङ्ग, जो वृद्धावस्थामें भी स्वावलम्बन और शारीरिक श्रमके लिये विख्यात हैं। ज्ञान और श्रम, विद्वत्ता और सक्रियता, सत्सङ्ग और कर्मके मूर्तिमान् आदर्श हैं।

दूर-दूरसे ज्ञान-पिपासु इनकी अनुभवसे निकली हुई अमृतवाणी सुननेके लिये भागे आते हैं और इनके आध्यात्मिक सत्सङ्गको पाकर अपना जीवन घन्य समझते हैं।

आज महर्षि मतङ्गको वह क्या सूझी कि स्वयं ही अपने दुर्बल वृद्धापके शरीरसे पेड़पर चढ़कर इस गरमीमें लकड़ियाँ काट रहे हैं !

उनका शिष्य-समुदाय उन्हें ढूँढ़ता-तलाश करता खट्-खट्की ध्वनिका संकेत पाकर उसी वृक्षके नीचे आ इकट्ठा हुआ है ।

‘गुरुदेव ! अब बहुत देर हो चुकी । आप थके दीख रहे हैं । पसीना बह रहा है । हम यह सहन नहीं कर सकते कि हमारे रहते आप जंगलमें लकड़ियाँ काटते फिरें ।’

‘आचार्यप्रवर ! अब आप हमारा प्रेमपूर्ण आग्रह मानिये । वस, काफी हो चुका श्रम ! आपके शरीरका पसीना बूँद-बूँदकर नीचे टपक रहा है । हमें यह देखकर बड़ी लजा आ रही है ।’ शिष्योंने अनेक प्रकारसे अनुनय-विनय की ।

जब महर्षि कहनेसे न माने, तो दो श्रद्धालु शिष्य पेड़पर चढ़ गये । गुरुजीके हाथसे कुल्हाड़ी पकड़ ली । अन्तमें वात्सल्यवश महर्षि मतङ्गको पेड़से नीचे उतरना पड़ा । शिष्य लज्जित थे । उनका मन जिज्ञासासे भरा था ।

‘गुरुदेव ! आपने हम सबके होते हुए लकड़ियाँ काटनेका श्रम क्यों किया भला ?’ सबका आग्रह था ।

‘शिष्यो ! देखते नहीं, वरसातका गीला सौसम पास आ रहा है । चार महीने चल सके, इतना ईंधन आश्रमके लिये जुटाना आवश्यक था न ?’

‘फिर गुरुदेव ! आप स्वयं ही कुल्हाड़ी लेकर अकेले ही चुपचाप जंगलमें लकड़ियाँ काटने निकल पड़े ? किसीको साथ न लिया आपने ?’ शिष्य पूछने लगे ।

‘मैंने तुम्हें जंगलमें भेजना उचित न समझा ! फिर मुझे भी तो शारीरिक श्रम करना चाहिये । कर्म तो धर्मका अङ्ग है । श्रमद्वारा ही हम जीवनके धर्मके रहस्यों तक पहुँच सकते हैं ।’

‘यह उम्र ! और यह कठोर श्रम ! पसीनेसे लथपथ !’

‘ब्रह्मो ! तुम्हारे लिये श्रम करना तुम्हारे प्रति मेरे वात्सल्यका प्रतीक है ।’

‘ओह ! हमारे लिये इतना कठोर श्रम ! इतनी कष्ट-सहिष्णुता गुरुदेव ! हमारा इतना अधिक ध्यान ?’

‘ब्रह्मो ! पिता और गुरुमें कोई अन्तर नहीं होता । मुझे अच्ययन और मानसिक उन्नतिके अतिरिक्त तुम्हारे स्वास्थ्य और सुख-सुविधाका भी ध्यान रखना पड़ता है ।’

फिर, एक बात यह भी तो है—केवल दूसरोंको उपदेश

दे और स्वयं उस कामको न करे, यह तो आत्मवञ्चना है और है—गिरानेवाला आदर्श ।

महर्षि बहुत मना करनेपर भी लकड़ी तोड़ते और संग्रह करवाते हुए आगे जंगलमें बढ़ते गये । आचार्यको लकड़ियाँ इकट्ठा करनेके उद्देश्यसे आगे बढ़ते देख शिष्य भी उनके साथ आगे बढ़ चले । यह सामूहिक श्रमदानका विलक्षण दृश्य था । इस श्रमसे उन्हें जरा भी थकान प्रतीत नहीं होती थी ।

अकस्मात् पीछेसे उन्हें कोलाहल सुन पड़ा ।

‘अरे ! यह कोलाहल कैसा है ? ये कौन लोग चले आ रहे हैं ?’ महर्षि मतङ्गने मुड़कर जंगली मार्गकी तरफ देखकर कहा ।

धीरे-धीरे आनेवाली भीड़का दृश्य साफ दिखायी देने लगा । सत्सङ्ग-पिपासु भक्त प्रेमविह्वल हो उधर ही भागे आ रहे थे ।

आचार्यको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उस आश्रममें आये हुए अतिथि भी जंगलमें आ पहुँचे थे । अब शिष्योंके अतिरिक्त भावुक जनता भी साथ थी—फिर भी सामूहिक श्रमदानका उत्साहपूर्ण कार्यक्रम रुका नहीं, उल्टे उसमें और जोश आ गया ।

लकड़ियाँ काटते, तोड़ते, बीनते-बीनते सभी आश्रमवासी घने जंगलमें निकल गये । महर्षि आगे-आगे मेहनतसे अब भी ईंधन जुटाते जाते थे । सामूहिक श्रमदानसे उस दिन उन सबने काफी ईंधन इकट्ठा कर लिया था । ईंधनके गड्ढर बाँधे, सिरोंपर लादे, वे आश्रमकी ओर वापस लौट पड़े थके-हारे, श्रम-सीकरसे नहाये हुए ।

‘अब थोड़ा विश्राम कर लाजिये, गुरुदेव ! आप बहुत थक गये हैं । पसीना पानीकी धाराकी तरह आपके शरीरसे बह रहा है ।’ सभीने फिर श्रद्धापूर्वक आग्रह किया ।

महर्षि मतङ्गकी कुल्हाड़ी फिर भी सक्रिय रही । उनका कुशकाय शरीर गरम पसीनेसे लथपथ था, नीचे पैरोंतलेकी जमीन भाड़की रेतकी तरह तप रही थी । आकाशमें ऊपरसे सूर्यदेवता आग बरसा रहे थे । उफ् ! ऐसी प्रचण्ड गरमी—और उसमें महर्षिका ऐसा कठोर श्रम ॥

‘वाल्को ! श्रम केवल स्वास्थ्यदायक और उपयोगी ही नहीं, शाश्वत ब्रह्मानन्दका सहोदर भी है ।’ महर्षि अपना

दृष्टिकोण समझाते हुए कहने लगे—“शरीरको तामसी आलस्यके वश करके आरामसे पड़े रहकर केवल कुछ पाठ-जप-करनेसे ही उपासना तथा साधना पूरी नहीं होती। उसके किये अपने शरीरके द्वारा श्रम करना भी आवश्यक है। उपयोगी श्रमपूर्ण ‘कर्म’ उत्कर्ष और शक्ति प्रदान करनेवाला होता है।”

महर्षि मतङ्ग तो गरमी और शारीरिक श्रमके कारण जैसे पसीनेसे नहाये हुए थे। वे बार-बार मस्तकसे पसीना पोंछते थे और वह गरम-गरम चूँदें तवे-जैसी तपी हुई घरतीपर गिरती जाती थी।

उनके शिष्य और श्रद्धालु भक्त भी थककर चकनाचूर थे। सबके कपड़े पसीनेसे तर-वतर थे।

थकान मीठी नींद देता है। महर्षि मतङ्गके आश्रममें नगरों-जैसी सुविधाएँ नहीं थीं। न सोनेके लिये गद्देदार पलंग, न और कोई आराम। संयम और श्रमका मिलजुल रूप था। आश्रममें कोई ऊँच-नीच, बृद्ध-युवकका अन्तर न था। सभीको अपनी शक्तिभर काम करना पड़ता था। उस दिन ईश्वन भी सभीने एकत्रित किया था। सभी बुरी तरह थक गये थे। रातको प्रगाढ़ निद्रामें निमग्न हो गये।

(२)

दूसरे दिन—

प्रभातकी स्वर्णरश्मियाँ क्षितिजपर खेलने लगीं। पक्षी चहचहाने लगे। दिन निकलने लगा।

पूर्व रात्रिके थकानके कारण सभी आश्रमवासियोंको गहरी नींद आ गयी थी। हँसता हुआ सूर्य निकल आया।

“शिष्यो ! मान्य अतिथियो ! प्रातःकाल हो गया। उठकर देखिये तो सूर्यदेवका लाल-लाल विम्ब पूर्व दिशाकी ओर उदित हो उठा है। दिन चढ़ा आ रहा है। अब सोना छोड़कर उठिये—

‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतसमाः।’

(ईश० २)

“हमारा काम ही हमें जीवन देता है। जीवनयज्ञमें हम कर्मकी ही तो आहुति देते हैं। हम कर्म करते हुए सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करें।” अब टहलनेकी अमृतवेला है। उठकर टहलने चलिए, जिससे स्वच्छ वायुका आनन्द प्राप्त हो सके। स्वास्थ्य और मनःस्थिति ठीक रहे। टहलना जीवनके लिये आवश्यक है। यहाँ प्रतिदिन सुबह टहलनेका नियम है।”

गुरुदेवका आदेश पा सब हड़बड़ाते हुए उठे। वे अपने आलस्यपर लजित थे।

“क्षमा करें, ऋषिवर ! कल अधिक श्रम करनेके कारण आज सुबह हमें उठनेमें विलम्ब हो गया।”

“कोई हर्ज नहीं। आप शौचादिसे शीघ्र निवृत्त हो लें। आइये घूमने चलें। कर्म ही प्रज्ञा है। कर्म और ज्ञानसे ही जीवन पूर्ण बनता है। जो चलता है, भाग्य उसके पक्षमें रहता है। आलस्यमें सोया रहता है, उसकी अवनति होती है। अवश्य ही कर्म होने चाहिये—ज्ञानमूलक तथा ज्ञानवर्धक। तभी उनका नाम ‘कर्म’ होता है।”

तत्काल आदेशका पालन हुआ।

सभी शिष्य और अतिथि शौचादिसे निवृत्त हो टहलने निकल पड़े। प्रातःकालीन स्वच्छ वायुका आनन्द लेते जाते थे। रात्रिमें विश्रामसे कुछ शक्ति और ताजगी आ गयी थी। सरिताका जल यौवनकी भाँति किल्लोल कर रहा था। पक्षी आनन्दसे मस्ती विखेर रहे थे। वृक्षोंकी हरी-भरी पत्तियाँ मादक बयारमें उन्मुक्त हिल रही थीं। प्रकृति अपने मोहकरूपमें आनन्ददायक दीख पड़ती थी।

आगे-आगे महर्षि मतङ्ग और उनके पीछे-पीछे हँसते-खेलते उल्लसित शिष्य तथा अतिथिगण टहलते हुए जंगलसे गुजर रहे थे। कोई मुसकराता, तो कोई किलकता !

संयोगकी बात ! वे उधर ही निकल पड़े, जहाँ पहले दिन लकड़ियाँ काटने निकले थे। वही पूर्वपरिचित मार्ग था। कहीं-कहीं कलके दूटे पत्ते और वृक्षोंकी मुरझाई हुई टहनियाँ अब भी पहिचानी जाती थीं।

अकस्मात् वहाँ किसी अज्ञात स्थानसे भीनी-भीनी सुगन्धका एक सौंका आया। अहह ! अजीब मादक थी वह सुगन्ध !!

जिस-जिसने उस महकको सूँघा, वह प्रफुल्लित हो उठा ! उसके कारण उसका मन-मयूर नृत्य कर उठा।

यह अदभ्य मीठी गन्ध चुम्बककी भाँति उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर रही थी। उस मादक गन्धने मानो उन्हें आनन्दके स्वर्गमें ला उपस्थित किया।

‘ऐसी मीठी सुगन्ध हमने कभी नहीं सूँघी ! अहह, बड़ी अजीब है यह सुगन्ध !’

‘यह मधुर पुष्प-गन्ध तो यहाँके समग्र वायुमण्डलमें व्याप्त है !

‘अहह ! आज तो इधर आकर जंगलमें टहलनेका मजा ही आ गया । इसकी मधुरिमाके कारण यहाँसे हिलनेको मन नहीं करता । शायद किसी विशेष प्रकारके पुष्पोंसे यह मादक सुगन्ध आ रही है ।

जितने मुँह, उतनी ही नाँतें ।

‘गुरुदेव ! यह अभिनव पुष्पगन्ध किस फूलकी है ? ऐसी आकर्षक गन्ध हमने जीवनभरमें पहले कभी नहीं सूँधी ।’

‘शिष्यो ! मैं भी पहली बार ही इन पुष्पोंकी गन्ध सूँघ रहा हूँ । मुझे इस फूलका नाम याद नहीं आ रहा है पता नहीं, यह किस फूलकी खुशबू है ?’

फिर महर्षि आगे बोले—

‘शिष्यो ! उन फूलोंको ढूँढ़कर पता लगाना चाहिये । युवको ! यह काम मैं तुम्हें सौंपता हूँ ।’

‘जो आज्ञा गुरुदेव !’

महर्षि मतङ्ग भी चकित थे कि आखिर उस जंगलमें कहाँसे वह अजीब महक आ रही थी ?

‘शिष्यो ! जंगलमें उस सुगन्धकी ओर जाओ । पता लगाओ, यह किस नये पुष्पकी मादक महक है ? ऐसी मीठी तथा तेज सुगन्ध अपने जीवनमें मैंने कभी नहीं सूँधी है ।’

शिष्य खोजके लिये उधर ही निकल पड़े । वे सब ढूँढ़ते और परखते हुए आगे चलते गये । सुगन्धके स्रोतकी ओर निरन्तर बढ़ते गये ।

‘अहह ! ये रहे वे फूल, जिनसे यह अभिनव सुगन्ध

आ रही है । इस सुरभिसे तो हमारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग तरङ्गित हो उठा है । ये पुष्प भी बड़े अद्भुत हैं । कितने प्यारे ! कितने दुलारे !!’

शिष्य सुग्ध मनसे उन्हें सूँघने लगे ।

‘महर्षि ! ये हैं वे अद्भुत पुष्प, जिनसे यह अभिनव सुगन्ध उत्पन्न हो रही है ।’ शिष्योंने उन्हें फूल दिखाये ।

महर्षि मतङ्ग ध्यानपूर्वक उन पुष्पोंका परीक्षण करने लगे । मनमें सोच रहे थे कि यह कैसे फूल हैं ।

सोचते-सोचते विजलीकी चमककी तरह उनके मनमें एक नया विचार कोंध उठा ! एकाएक वे हर्षसे पुकार उठे—

‘अरे ! यह तो वे ही श्रमकी बूँदें हैं, जो कल ईधन बटोरते हुए हमारे शरीरोंसे धरतीपर गिरी थीं । वे श्रम-सीकर ही फूलकी तरह खिल रहे हैं । यह तो श्रमकी ही अभिनव सुगन्ध है शिष्यो !’

शिष्य चकित होकर उन फूलोंकी ओर ध्यानसे देखने लगे ।

‘शिष्यो ! सत्कर्ममें ही चिरस्थायी सुगन्ध है—

‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतम् समाः ।’

(ईश० २)

—निरन्तर कर्म करते हुए ही हम सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करें ।’

‘गुरुदेव ! सचमुच हमने पाया है कि श्रममें चिरस्थायी सुगन्ध है ।’

‘इसमें किंचित् भी संदेह नहीं, शिष्यो ! श्रम ही जीवनमें सफलताका मूलमन्त्र है । जो मनुष्य आलसी है, श्रमसे दूर भागता है, वह अपने लक्ष्यकी सिद्धि नहीं पा सकता ।’

प्रमाद-आलस्य छोड़कर स्वावलम्बी बनो

कर प्रमाद मत बनो आलसी, करो सुचारु रूपसे काम ।
अपना काम स्वयं करनेमें, लाज-बड़प्पन तजो तमाम ॥
हाथ-पैर—सब साधन प्रभुने दिये दयाकर तुम्हें समान ।
फिर क्यों उनसे काम न लेते ? क्यों रखते हो झूठी शान ? ॥
मन-तन दोनोंका हित करता निश्चय शारीरिक श्रम युक्त ।
बनो स्वावलम्बी स्वतन्त्र, होओ पर-निर्भरतासे मुक्त ॥

वर्णाश्रमकी ऐतिहासिकता

(लेखक—डॉ० श्रीनरजाकान्त चौधरी, एम० ए०, पी० एच्० डी०)

[गताङ्कसे आगे]

(२) नाटकोंके नाम प्रारम्भमें नहीं, शेषमें रहते थे। लेखकका नाम नहीं। भरतवाक्य भी प्रायः एक ही हैं—

हमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम् ।
महीमेकातपत्राङ्गां राजसिंहः प्रशास्तु नः ॥

किसी-किसी नाटकमें सामान्य प्रमेद हैं—

‘इमामपि महीं कृत्स्नां राजसिंहः प्रशास्तु नः ।’

(पञ्चरात्र)

‘राजा राजगुणोपेतो भूमिमेकः प्रशास्तु नः ।’

(कर्णभार)

‘त्वं राजसिंह पृथिवीं सागरान्तां प्रशाधि च ।’

(यशफल)

दुःखका विषय यही है कि इस सार्वभौम सम्राट्के नामका कविने उल्लेख नहीं किया।

(३) नाटकोंकी भाषा, भाव, समावेश इत्यादिमें आश्चर्यजनक साम्य परिलक्षित होता है। सबका उल्लेख करना सम्भव नहीं, कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

(क) ‘उस्सरह, उस्सरह ‘अय्या उस्सरह ।’

(स्वप्न० १।२, प्रतिशा० ४।४ एवं ४।६, उरु० १।३५।३)

(ख) राजाको ‘भद्रमुख’ कहकर सम्बोधन करना—

‘जयतु भद्रमुखः’ (अभि० ३।९—रावणके प्रति शङ्कुकर्ण)

भद्रमुख ! अभि० ६—(रामके प्रति अग्निका वचन सम्बोधन)

(स्वप्न० १।७)

(ग) कालिदासके नाटकमें जिन विश्वस्त वयोवृद्ध

अन्तःपुरचारी ब्राह्मण राजपुरुषका नाम ‘कञ्चुकी’ है; भासके

नाटकमें वे ‘काञ्चुकीय’ नामसे आख्यात हैं।

(स्वप्न० प्रतिशा० प्रतिमा० अभिषेक० पञ्चरात्र०

दूतवाक्य० बालचरित०।)

(घ) कविने ‘स्वैर’ शब्दका प्रायः ही व्यवहार किया है—

‘स्वैरं स्वैरं प्रविशतु भवान् ।’ (स्वप्न० १।१२)

जुलाई ५—

‘स्वैरमभिधीयताम् ।’

(अवि० ६।१४—नारदवाक्य)

‘स्वैरमुपविश्य ।’

(अवि० ६।४)

‘तेन हि स्वैरमभिधीयताम् ।’

(अवि० ९।२—सूत्रधार)

‘स्वैरं हि पश्यन्तु कलत्रमेतत् ।’

(प्रतिमा १।२९—राम-वाक्यमें)

‘स्वैरमेकान्ते स्थित्वा’

(अभि० ६)

‘स्वैरं प्रविशन्तु भवन्तः’

(दूत० १।४)

‘स्वैरमास्तां भवन्तौ’

(वही ३।१८)

(ङ) इसी प्रकार ‘मन्दभाग्य’, ‘मन्दभागा’, ‘मन्दभाआ’ ‘तपस्विनी’—ये शब्द भी कविको प्रिय हैं।

‘जीवामि मन्दभाआ’ (स्वप्न० १।१२ एवं ३।७)

‘पृषा गच्छामि मन्दभाआ’ (प्रतिहारी० प्रतिशा० १२२।१३;

तारा—अभि० १।११, देवकी—बाल० १।१२)

‘हं विन्दामि खु मन्दभाआ’ (कुरङ्गी—अवि० ३।३)

‘खु मिह मन्दभाआ’ (सीता—अभि० ५।९)

‘जीवाविदमिह मन्दभाआ’ (गान्धारी—अरु० १।४१)

‘किं करिष्यामि मन्दभाग्यः’ (मध्यम० १।९)

‘न्यक्तं घोषसमीपे वर्तते मन्दभाग्यः’ (वसुदेव—बाल०

१।१८) ‘तपस्विनी’ (बाल० १।१९) ‘तपस्विनी दुःशला’

(दूतषटोक्तच १।७) ‘तपस्विन्या देवक्या’ (बाल० २)

‘अस्मद् ब्रह्मचारी खल्वयं तपस्वी’ (बाल० १।१९)

इसी प्रकार—‘जं भट्टिनी आणवेदि’ (प्रतिमा)

‘जं अय्यो आणवेदि’ ‘हं भोः कष्टम्, भवतु इष्टम्’ प्रभृति अनेक बार व्यवहृत हुए हैं।

(च) ‘उन्मत्तक’ शब्द कविको अतिशय प्रिय है।

‘उन्मत्तिष्’ (अवि० ४।२२), उन्मत्तिष् (सीता—प्रतिमा १, वसन्तसेना—चार २।३२)

‘उन्मत्तञ्च दग्धं खु अमहाअम्’ ‘उन्मत्तक, दैवतं कलु अस्माकम्’ (हिडिम्बा—मध्यम० १।४९)

(छ) 'अविहा' (अविधा) वाक्य प्रायः ही विदूषक उच्चारण करते हैं। कालिदासमें भी पाया जाता है—

'अविहा अविहा' (स्वप्न० ४ । २; ५ । २; चारु० १ । ३; कर्ण० १ । २०)

(ज) माताके नामसे पुत्रका नाम-सम्बोधन करना, जैसा प्राचीन युगमें था—

'सुमित्रामातः', (प्रतिमा) 'कौसल्यामातः', (वही) 'गान्धारी-मातः', (पञ्च० १) 'यादवीमातः', 'शौरसेनीमातः' (बालचरित)

(झ) आः कस्य महाराजः । वाक्य (पञ्च० २ । ५३ एवं बाल० ५ । ७)

ये वाक्य तेज और अन्यमनस्कताका संकेत करते हैं।

(ञ) 'रणशिरसि' शब्दका बहुत-से नाटकोंमें व्यवहार हुआ है—

'रणशिरसि गवार्धे नास्ति मोघः प्रयत्ने' (विराट्-पञ्च० २ । ५)

'रणशिरसि नृपेण साहसाद् यो' (अवि० ५ । ४)

'रणशिरसि गदां ताम्' (उरु० १ । २७)

'रणशिरसि सुतं ते पातयित्वा' (अमि० ५ । १९)

(ट) द्वारपर कोई आकर खड़ा है, यह समझानेके लिये 'अशून्य' शब्दका व्यवहार कविकी अपनी विशेषता है—

'क इह भोः ! काञ्चनतोरणद्वारमशून्यं कुरुते ।'

(काञ्चुकीय-स्वप्न० ६ । १; प्रतिमा ६ । ४)

'क इह भोः ! प्रवालतोरणद्वारमशून्यं कुरुते ।'

(राक्षस, काञ्चुकीय—अमि० ५ । १)

क्या केवल यही वाक्य इसे प्रमाणित करनेको पर्याप्त नहीं है कि स्वप्न, प्रतिमा और अभिषेक—तीनों ही नाटक एक ही लेखनीद्वारा प्रसूत हैं।

(ठ) रङ्गमञ्चपर शपथ या आचमनके लिये जलका व्यवहार कविने बहुत-से नाटकोंमें ठीक एक-सी भाषामें किया है—

'आपस्तावद्', 'इमा आपः' । (प्रतिमा १ । १५, दूत १ । ४३, अमि० १ । २६, प्रतिमा २ । २०, पञ्च० १ । २९ एवं २ । ७० मध्यम)

इन छः नाटकोंके लेखक एक ही व्यक्ति है, यह निःसंदेह सिद्ध हो गया।

(ड) इसी प्रकार—

'बाढम् । प्रथमः कल्पः ।' वाक्य छः नाटकोंमें व्यवहृत हुआ है । (अवि० २ । ७; अमि० ६ । १८; मध्यम १ । ५१; बाल० ४ । १२; ऊरु० १ । २६; प्रतिमा ६ । ४)

(ढ) रामायणविषयक दो नाटकोंमें सीता और रावण एक ही तरहके वाक्यका व्यवहार करते हैं—

'सत्तोसि' (शसोऽसि) सीता । (प्रतिमा ५ । १९ एवं अमि० २ । १७) 'हृदह ! अहो पतिव्रतायास्तेजः'—रावण

(ण) स्नानके समयकी घोषणा दोनों नाटकोंमें एक ही भाषामें की गयी है—

'दशनाडिका पूर्णा । X X अतिक्रामति स्नानवेला' (अवि० १ । ११ और अमि० २ । १८)

संध्याके समय भी स्नानका नियम था—'आवृत्तं स्नानोदकम्' (अवि० २)

(त) अभिवादन, आशीर्वाद और प्रत्यभिवादनमें प्रायः एक ही वाक्य व्यवहृत हुआ है—

'अम्बाः ! अभिवादये ।' 'नाद ! चिरं जीव ।' (प्रतिमा—७)

'अनुगृहीतोऽस्मि' (अवि० ५ । १९) 'आर्ये ! शत्रुघ्नोऽहमभिवादये !' 'एहोहि वत्स ! स्वस्ति ! आयुष्मान् भव ।' 'अनुगृहीतोऽस्मि'—(प्रतिमा)

(थ) कविने पौराणिक और महाभारतीय एक ही घटनाका बारंबार उल्लेख किया है—

(१) 'येन भीमः सभास्तम्भं तुल्यन्नेव वारितः ।' (पञ्च० १ । ३६)

पृष्ठ दुरात्मा भीमः X X सभाहस्तं तुल्यति (दूत० १ । ७)

(२) इसी प्रकार सौप्तिकपर्वमें अश्वत्थामाके रात्रि-अभियानकी कथाके विषयमें—

'गुरोरवजितं हत्वा शास्तं द्रौणिशिव स्थितम् ।' (योगन्धरायण-प्रतिमा ४ । १५)

'सरभसमहमेको द्रोणपुत्रः स्थितोऽस्मि ।' (अरु० १ । ५७)

'मार्गश्चैष नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्व कृतो द्रौणिना ।' (सजलक-चारु० ३ । ६)

(३) कार्तिकेयकर्तृक 'क्रौञ्चगिरिभेद' का उल्लेख भी कई नाटकोंमें देखा जाता है—

'गुरुशक्तिसमाक्रान्तो यथा क्रौञ्चाचलोत्तमः ।' (अमि० २ । २४)

‘भिन्नो मद्वानवेगेन क्रौञ्चत्वं वा गमिष्यसि ।’

(रामवाक्य,—प्रतिमा ५ । १२)

‘क्रौञ्चं यथा गिरिवरं युधि कार्तिकेयम्’

(अभि० ६ । ७)

‘बाणेन हि पुरा क्रौञ्चः स्कन्देन निधनं गतः’

(बाल० ३ । ९)

अन्धकवधका उल्लेख भी कई स्थानोंपर पाया जाता है—

(४) इसी प्रकार मन्दरगिरिके भारगौरवकी कथा भी अभिषेक, बालचरित प्रभृति नाटकोंमें है ।

(५) ‘भर्तृपिण्ड’ शोधनकी कल्पना प्रतिशाके समान अन्य नाटकोंमें भी पायी जाती है—

‘अयं खलु भर्तृपिण्डनिष्क्रयस्य कालः ।’

(बाल० ५ । ११)

(४) भाषा और व्याकरण—

वर्तमान नाटकोंमें एक ही प्रकारके अपाणिनीय प्रयोग परिलक्षित होते हैं । सुतरां ये सब नाटक अति प्राचीन हैं एवं व्याकरणकी दृष्टिसे विचार करनेपर ये एक ही कविकी कृति हैं, ऐसा समझमें आता है ।

(क) आत्मनेपदके स्थानपर परस्मैपदका प्रयोग—

‘आपृच्छामि’ (स्वप्न० १ । १५, प्रतिमा), ‘आपृच्छ’ (प्रतिमा ११), ‘परिस्वजतीव’ (अवि० ३ । १७), ‘परिस्वजति’ (ऐ), ‘परिस्वज’ (ऐ), ‘परिस्वजसि’ (बाल० २ । ९)

(ख) परस्मैपदके स्थानपर आत्मनेपदका प्रयोग—

‘इक्षिष्यते’ (स्वप्न० १ । ५); ‘रुह्यते’ (स्वप्न० ६ । १०); ‘अश्न्यते’ (प्रतिमा १ । ३ एवं १ । ११); ‘श्रोष्यते’ (प्रतिमा १ । ११); ‘परिम्लायते’ (चार० १ । ६); ‘विश्रमिध्ये’ (प्रतिमा ३ । ८); ‘पृच्छसे’ (ऐ० ३ । ८); ‘आकर्षमाणः’ (अभि० १ । १६); ‘परिहरन्ते’ (पञ्च० २ । १५) ‘रुह्यते’ (पञ्च० २ । ४५ तथा पञ्च० २ । ४८); ‘गर्जसे’ (बाल० ३ । १८); ‘कर्षमाणः’ (चार० १ । ५६); ‘रक्षमाणः’ (बाल० १ । १०); ‘प्रतिगर्जमानः’ (बाल० १ । ५) ।

(ग) अकर्मक सकर्मकके रूपमें—

‘रमामि’ (चार० ३ । १); ‘रमते’ (अभि० २ । २०); ‘स्रवति’ (पञ्च० २ । २२) ।

इसी प्रकार और भी बहुत-से व्याकरणविरुद्ध प्रयोग सभी नाटकोंमें पाये जाते हैं ।

(५) पात्र-पात्रियोंके नामोंकी एकता विभिन्न नाटकोंमें देखी जाती है ।

‘दूतवाक्य’ और ‘प्रतिशा’में—काञ्चुकीयका नाम वादरायण; ‘स्वप्न’, ‘प्रतिशा’, ‘अभिषेक’, ‘प्रतिमा’ एवं ‘यज्ञफल’में स्त्री-प्रतिहारीका नाम ‘विजया’, ‘पञ्चरात्र’ तथा ‘बालचरित’में दो गोपोंके नाम ‘वृषभदन्त’ और ‘कुम्भदन्त’ ।

(६) निरङ्कुशता

पाश्चात्य गवेषक और उनके एतद्देशीय अनुयायी सज्जनोंने भरतमुनिप्रणीत सुप्राचीन नाट्यशास्त्रको भी ईस्वी शताब्दीमें खींच लाना चाहा । इसका कारण यही था कि वेबर (Weber), कीथ (Keith) प्रभृति धुरंधरोंके मतमें ग्रीक नाटक आदिम और पूर्वतन हैं एवं भारतीय नाटक सम्भवतः ग्रीक आदर्शसे उद्भूत अथवा अन्ततः छाया प्राप्त हैं ।

किंतु इस मतका समर्थन नहीं किया जा सकता । ‘अविमारक’में विदूषक बोलता है—‘अस्मि रामाअणं नाम-नट्टस्समम्’ (अस्मि रामायणं नाम नाट्यशास्त्रम्) । इसका निष्कर्ष यही निकला कि पञ्चम (ईसापूर्व) शताब्दीके पूर्व भारतमें नाट्यशास्त्र सम्भवतः क्या—निश्चय ही अन्ततः भरतमुनिके ग्रन्थके रूपमें वर्तमान था ।

महाकवि भासने व्यायोग, ईहामृग, समवकारप्रभृति नाना श्रेणीके नाटक लिखे हैं । किंतु उन्होंने भरतमुनिके निर्देशका सर्वत्र अक्षरशः अनुसरण नहीं किया है । रङ्गमञ्चपर मृत्यु, युद्ध आदि दृश्य दिखलाये हैं । रामायण-महाभारत आदिकी मूल कहानी अनेकशः ठीक होनेपर भी उन्होंने जहाँ मनमें जिस रूपमें प्रयोग करना सुविधाजनक समझा, उस रूपमें कविजनोचित स्वर—स्वाधीनताका व्यवहार किया है; घटनाका परिवर्तन करनेमें द्वैविध्यक बोध नहीं किया । यज्ञफल, पञ्चरात्र, प्रतिमा प्रभृति प्रत्येक नाटकमें ही इसी प्रकार निरङ्कुश कल्पना हुई है । भासके नाटकोंका यह लाक्षणिक वैशिष्ट्य है । ‘मध्यम व्यायोग’में कविने थोड़ेमें ही जिस अनवद्य चित्रको अङ्कित कर डाला है, वह भी सम्पूर्णतः उनकी अपनी प्रतिभासे प्रसूत है ।

(७) नायकोंके मृत्युकालमें स्वर्गस्थ विमान, देवता या पूर्वपुरुषका आविर्भाव प्रभृति, जैसे दशरथ (प्रतिमा-२) वाली (अभिषेक-१) एवं दुर्योधन (उरुभङ्ग)—यह नाटकोंका एक साधारण वैशिष्ट्य है ।

(८) देवी-देवताओंके अस्त्र-शस्त्रादिका मूर्तिपरिग्रह

करके उनके सेवार्थ रङ्गमञ्चपर आविर्भाव कई नाटकोंमें पाया जाता है। बालचरितमें—कात्यायनी अम्बादि एवं परिवारसहित आविर्भूत हुई हैं।

बालचरित और दूतवाक्यमें—गरुड, सुदर्शन, शार्ङ्ग, कौमोदकी, पाञ्चजन्य और नन्दक—सभी श्रीकृष्णकी सेवाके लिये समुपस्थित होते हैं।

(१) 'नागवनम्' (प्रवेश), 'पुण्यरथश्च' (प्रतिमा १।३), 'पुण्यो नगरदेवता' (स्वप्न० ६।९) 'वेशवास' (चार० २) 'वेशमार्ग' (ऐ २) ये सब शब्द "अर्थ-शास्त्र"में भी अनुरूप अर्थमें व्यवहृत हुए हैं। मनमें समझ पड़ता है कि ये सभी नाटक कौटिलीय अर्थशास्त्रके समकालीन हैं। (क्रमशः)

जीवका जीवन

(लेखक—श्रीशिवनाथजी दुवे)

कह रहा है आसमाँ यह सब समौं कुछ भी नहीं।

पीस दूँगा एक गर्दिश में जहाँ कुछ भी नहीं ॥४॥

—जौक

बात है आजसे दस-बारह वर्ष पूर्वकी। कड़ाकेका जाड़ा पड़ रहा था। अंशुमाली अपनी सिन्दूरी किरणें समेट भी नहीं पाते थे कि गरम कपड़ोंसे काया ढक लेनी पड़ती थी। दो घंटे रात नहीं बीतती थी कि आहारसे निवृत्त होकर रजाईमें मुँह छिपाना पड़ता। पढ़ना-लिखना सब रूईका भार लिये ही करना पड़ता।

रातके नौसे अधिक नहीं थे। मैं पढ़ रहा था—लालटेनके प्रकाशमें। मैंने देखा—'पुस्तकके पृष्ठपर अत्यन्त क्षीणकाय, रोम-सदृश पतला एक लघु कीट रेंग रहा था। उसे हटानेके लिये मैंने अपनी अँगुलीसे उसे धीरेसे सरकाया, पर ओह ! उसका शरीर इतना अधिक कोमल होगा, इसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी। वह धीरेसे सरकानेमें भी पिस गया—समाप्त हो गया। उसकी जीवन-लीला वहीं समाप्त हो गयी। पुस्तकके पृष्ठपर एक हल्का निशान बनकर रह गया।

एक जीवकी हत्या हो गयी है, कोई मृत्युमुखमें प्रवेश कर गया है, मैंने किसीका प्राण ले लिया है, यह कोई नहीं जान सका और आजतक नहीं जान पाया। एकलघु कीट कितनी मस्तीसे अपनी धुनमें चला जा रहा था, उसकी कितनी इच्छाएँ और लाञ्छाएँ थीं और किस प्रकार वह अचानक इस संसारसे चला गया ! उसकी मृत्युपर न कोई रुदन करनेवाला था और न समवेदना ही प्रकट करनेवाला।

लघु कीटकी उक्त सुकोमल कायाका वह चिह्न अब भी मेरी पुस्तकके पृष्ठमें है। देखनेपर लगता है, जैसे किसीने हल्की स्याही फेर दी हो। पर उसके अन्तरमें किसीकी जीवन-गाथा छिपी है, इसे समझना अत्यन्त सरल नहीं है।

वह चिह्न जब कभी मेरे सामने आता है, हृदय काँप उठता है—'जीवके जीवनपर ! मृत्युके नर्तनपर !!'

और इस अनन्त, अपरिसीम ब्रह्माण्डके मध्य मेरी, आपकी और समस्त मानव-जातिकी स्थिति उस कीटसे क्या विशेषता रखती है ?

* आसमान कहता है कि 'दुनियाकी ये बहारें और खूबसूरत नजारे कुछ भी नहीं हैं। मैं तो उन्हें एक ही चक्रमें पीस दूँगा !'

जगत् हरिका रूप है

(लेखक—श्रीहरकिशनदासजी अग्रवाल)

प्रातःकालका समय, मन्द-मन्द शीतल हवा चल रही है, सूर्य निकलनेवाला ही है। पक्षियोंकी चहचहाहट ईश्वरीय मधुर संगीत बन कानोंमें पड़ रही है, जिससे चित्त अन्तरकी ओर खिंचा जा रहा है। फूल खिलकर प्रसन्नताका संदेश दे रहे हैं। फूलोंकी कोमलता एवं उनकी सुमधुर सुगन्ध परमात्माकी ही सूचक है। मनुष्यने प्लास्टिक तथा कागजके फूल बनाकर इन असली फूलोंकी नकल तो की, किंतु वह उसमें कोमलता एवं प्राकृतिक सुगन्ध नहीं भर सका। प्लास्टिक अथवा कागजके फूलोंमें कोई जीवन नहीं, कोई आकर्षण नहीं; क्योंकि वे ईश्वरकृत नहीं।

सूर्य पहाड़के पीछे छिपा हुआ है। उषाकालका सूर्य निकल रहा है तथा अपनी किरणोंको चारों ओर फैलाकर जंगलके अन्धकारको दूर कर रहा है। अन्धकार होता ही सूर्यकी विमुखतामें है। जब पृथ्वीका एक भाग सूर्यके विमुख हो जाता है, तो वहाँ अन्धकार हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य जब ईश्वरसे विमुख चलने लगता है, तो अन्धकारमें ही ठोकरें खाता रहता है। परमात्मा प्रेम है और प्रेम प्रकाश है। जिस मनुष्यके हृदयमें परमात्मा प्रकट हो जाता है, उसका हृदय प्रेम तथा प्रकाशसे भर जाता है।

पर्वतके पीछे कुछ-कुछ बादल उठ रहे हैं, और उन बादलोंमेंसे छना हुआ सूर्यका प्रकाश बड़ा ही सुहावना तथा मनोमोहक प्रतीत हो रहा है। सूर्यकी पहली किरण जब झरोखेसे अंदर आती है तो न केवल कमरेको ही प्रकाशमय करती है, किंतु उसके प्रकाशमें लाखों-करोड़ों धूलिकण भी प्रकाशित हो उठते हैं। वे सूर्यकी किरणोंमेंसे ऐसे ही उड़ रहे हैं, जैसे ब्रह्माण्डमें नक्षत्र-तारागण। जब मनुष्यके अंदर ज्ञानका उदय हो जाता है, तो उसके अंदर पड़े हुए कामना-वासना तथा तृष्णाके धूलिकण स्पष्ट दिखायी देते हैं। सजग

प्राणीके हृदयमें इतनी सजगता आ जाती है कि वह जो भी कुछ देखता है, सजगतापूर्वक स्पष्ट देखता है। देखनेकी स्पष्टता ही उसे उसमें बद्ध होने नहीं देती।

कुछ कालके लिये सूर्यके आगे बादल आ उसे ढक लेते हैं। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे सूर्य निकला ही नहीं। किंतु कुछ कालके पश्चात् हवा चलनेसे जब बादल उड़ जाते हैं एवं सूर्यका आवरण भंग होकर स्पष्ट दिखायी देने लगता है और वह भ्रान्ति कि सूर्य अभी निकला ही नहीं, दूर हो जाती है। इसी प्रकार मनुष्यके हृदयमें कामना-तृष्णा-वासनाके बादल सूर्यरूपी परमात्माको ढक लेते हैं। जब हमें किसी चीजकी कामना होती है तो परमात्मा ओझल हो जाता है; क्योंकि उस स्थितिमें हमें कामना-ही-कामना दिखायी देती है, ईश्वर नहीं। परमात्मा तो नित्य निरन्तर अवरिल भावसे विराजमान है ही, किंतु उसका भक्त ही उसकी ओर न देखे तो वह कसूर मनुष्यका ही है, परमात्माका नहीं। जब हम कामना-तृष्णा-वासनाके विचारोंसे ऊपर उठते हैं, तो मन आकाशकी तरह निर्मल हो जाता है। तब उसमें सूर्यका ही प्रकाश दीखता है, अन्य कुछ नहीं। परमात्मा सफेद अक्षरोंकी तरह है। सफेद अक्षर तभी दिखायी देते हैं, जब कि नीचे भूमि काली हो, अर्थात् उसपर कुछ लिखा हुआ न हो। अगर बोर्डपर चाकसे बहुत कुछ लिखा हुआ है और फिर उसीपर हम २-४ लाइनें और डाल दें, तो वे दो-चार लाइनें अन्य लाइनोंमें ही घुल-मिल जाती हैं, स्पष्ट तथा भिन्न दिखायी नहीं देतीं। इसी प्रकार परमात्मा भी विचारोंमें घुल-मिल गया है। विचारोंमें हमारा मन इतना तल्लीन है कि उसे फुरसत ही नहीं कि वह परमात्माकी ओर देख सके। और जब उसे फुरसत ही नहीं, तो उसे परमात्मा दिखायी कैसे देगा? जब मनमें वासना होती है, तो मनमें विचार होते हैं।

फिर विचार अन्य विचारोंको जन्म देते हैं एवं उनका ताँता बना ही रहता है। मन एक समयमें एक ही काम कर सकता है, चाहे वह विचारोंसे तादात्म्य जोड़े चाहे परमात्मासे। जब विचारोंसे तादात्म्य होता है, तो मन एकाग्र नहीं होता और जब मनका परमात्मासे नाता जुड़ जाता है, तो विचार विलीन हो जाते हैं।

जगत् हरिका रूप है, इसका संदेश हमें कण-कण, पक्षियोंकी चहचहाहट, सूर्योदय, चन्द्रमा, बहते हुए जल, वृक्ष-पेड़-पौधे-लता और पर्वतादिसे मिलता है। परमात्मा ही जगत्के रूपमें परिणत होकर स्वयं उसमें छिपा हुआ है। साधारण मनुष्यको तो जगत् ही दीखता है, परमात्मा नहीं। किंतु गुरु—पीरवालेको जगत्में हरिका रूप दिखायी देता है; क्योंकि पृथ्वीमें कठोरता, जलमें तरलता, अग्निमें उष्णता, हवामें शान्ति और आकाशमें शून्यता उसीकी है, बल्कि वही है। उसीकी शक्तिको ले, बीज कुछ कालके बाद वृक्ष बन जाते हैं और वे अनन्त बीजोंको जन्म देते हैं, जिससे और बहुत-से वृक्ष हो जाते हैं तथा यह संसार-चक्र इसी तरह चलता रहता है।

परमात्मा दूधमें घीकी तरह, मेंहदीमें लालीकी तरह हरेक कार्यमें हरिको ही देखते हैं, अन्य कुछ नहीं

और रिकार्डमें गानेकी तरह भरा है। देखनेवालेको मेंहदीकी हरी पत्तियोंमें लाली नहीं दिखायी देती है, किंतु अनुभवी माताओंको मेंहदीमें लाली दिखायी देती है। साधारण मनुष्यको केवल दूध ही दिखायी देता है, किंतु ग्वालों तथा डेरी फार्मवालोंको उसमें केवल मक्खन दिखायी देता है। बम्बईमें जो 'आरे मिल्क कालोनी' है, वहाँ 'फैट कन्ट्रैक्ट' के हिसाबसे दूध खरीदते हैं, उसकी रकम उसी हिसाबसे चुकायी जाती है। केवल वजनपर पैसे नहीं दिये जाते। भैंसके दूधमें केवल ७-८ प्रतिशत स्निग्धता होती है एवं गायके दूधमें साढ़े तीन प्रतिशत और बकरीके दूधमें उससे औ भी कम। जिसको दूधसे मक्खन निकालना है, वह दूधमें मक्खन ही देखता है और उसी प्रकार उसका मूल्याङ्कन भी करता है, जब कि साधारण मनुष्य दूधका ही देखता है।

साधारण व्यक्तिके लिये जगत् इच्छा-कामना-तृष्णा राग-द्वेषमूलक दुःख-सुखका एक अड्डा है, जिसमें कुछ दिनके लिये हम आते हैं और बिना लक्ष्यप्राप्तिके चले जाते हैं; किंतु ज्ञानीके लिये जगत् हरिका रूप है।

जगत्के कण-कणमें—वस्तु-व्यक्ति-सम्पत्ति तथा प्रकृति

हरिनाम सबसे सुगम साधन है

'अमृतका बीज, आत्मतत्त्वका सार, गुह्यका भी गुह्य रहस्य श्रीरामनाम है। यही सुख मैं सदा लेता रहता हूँ और निर्मल हरिकथा—हरि-गुणगान गाया करता हूँ। हरिकथामें समाधि लग जाती है। लोभ मोह, आशा, तृष्णा, माया सब हरि-गुणगान सेठे नष्ट हो जाते हैं। भगवान् पाण्डुरङ्गने इसी रीतिसे मुझे अङ्गीकार किया और अपने रंगमें रँग डाला'... 'नाम-संकीर्तन साधन है तो बहुत सरल, पर इस जन्म-जन्मान्तरके पाप भस्म हो जाते हैं। इस साधनमें वन-वन भटकनेका काम नहीं है। नारायण स्व ही सीधे घर चले आते हैं। अपने ही स्थानमें बैठे मनको एकाग्र करो और प्रेमसे उन भगवान् अनन्तव भजो। राम-कृष्ण-हरी-विठ्ठल-केशव—यह नाममन्त्र सदा जपते रहो। इसे छोड़कर और कोई साधन नहीं है। यह मैं शपथ करके कहता हूँ। तुका कहता है—यह साधन सबसे सुगम है। बुद्धिमान् धनी ही इस धनको यहाँ हस्तगत कर सकता है।'—संत तुकाराम

गोब्राह्मणहिताय

[राजाका आदर्श]

(लेखक—श्रीनिरञ्जनदासजी धीर)

सच्चे अर्थोंमें राजा वही है, जिसके द्वारा सारी प्रजाके जीवनपर सुख-संतोष-सुधाकी वर्षा हो रही हो। वास्तवमें राजामें भगवदंश प्रकटरूपमें होना चाहिये; क्योंकि श्रीमुखका वचन है—‘नराणां च नराधिपम्’—अर्थात् ‘मनुष्योंमें राजा मैं हूँ।’ (गीता १०।१७)

प्राचीन कालके प्रसिद्ध नरपतियोंके गुणोंकी महिमा महाभारत तथा पुराणोंमें मिलती है। रामराज्य तथा पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिरके राज्योंकी रूप-रेखा ऐसी है कि जिनके अनुकरणके प्रयत्नमात्रसे देश सुख, शान्ति और समृद्धिको निश्चय ही प्राप्त कर सकता है। अंग्रेजीकी एक कहावत है कि ‘राज्यकी प्रणालीके लिये जो झगड़ते हैं, वे नितान्त मूर्ख हैं; क्योंकि राज्य-प्रणाली चाहे कोई भी हो, वस्तुतः उत्तम प्रबन्धसे ही राज्य उत्तम माना जायगा।’ हमारे राज्यकी प्रणाली चाहे प्रजातन्त्र है, किंतु प्रजा कितनी सुखी है, यह प्रजाके अनुभवकी बात है।

इसी शताब्दीके प्रथम चतुर्थांशमें सर प्रतापसिंह जम्मू-कश्मीरके महाराज थे। वे कोई विशेष विद्वान् नहीं थे। अपनी मातृभाषा डोंगरीमें ही लिख-पढ़ सकते थे; किंतु वास्तवमें वे आर्य-संस्कृतिके सच्चे प्रतीक थे। उन्होंने अपनी वेशभूषा वही रखी जो भारतका अपना था। कभी कोई विदेशी वस्त्र अपने लिये प्रयोगमें नहीं लिया। उनकी मनोवृत्ति तथा विचार कैसे थे, इसका निर्णय उनके उन कामोंसे होता है, जो उन्होंने अपने जीवनमें किये और जिनसे उनकी प्रजा परिचित है। उदाहरणार्थ यहाँ उनके जीवनकी कुछ घटनाएँ प्रकाशमें लायी जाती हैं।

१—एक नितान्त निर्धन ब्राह्मणकी कन्या विवाह-योग्य हो गयी, पर उसको वर कहाँसे मिले। कुछ समय प्रयत्न करनेपर कन्याके भाग्यने पलटा खाया और वर मिल गया; किंतु बारात बुलायी जाय तो उसके लिये भोजनकी व्यवस्था कहाँसे हो? इसलिये गरीब ब्राह्मणने केवल वर तथा उसके पिताको ही बुलाकर एक पण्डितजीके द्वारा कन्यादानकी विधि पूर्ण करके विवाह सम्पन्न किया। नवविवाहित कन्या पतिके गृह पैदल चलकर नहीं जाती, ऐसी प्रथा प्रायः सर्वत्र है। जम्मूके पर्वतीय क्षेत्रमें प्रायः चार कहारोंद्वारा उठायी जानेवाली पालकी अथवा डोली प्रयोगमें लायी जाती है और यदि यह न हो सके तो कोई अन्य पुरुष उसको अपने कंधेपर उठाकर पहुँचा दे। धनके बिना यह भी नहीं हो सकता। कन्याके पिता ब्राह्मण देवता किर्कतव्य-विमूढ़की भाँति बैठे थे कि एक व्यक्ति जो वेशभूषासे मजदूर-सा लगता था, वहाँ आ उपस्थित हुआ और कहने लगा कि ‘कन्याको उसके ससुराल में पहुँचा आता हूँ, पर मैं कोई मजदूरी नहीं लूँगा।’ ब्राह्मण देवता बड़े प्रसन्न हुए। उस व्यक्तिने कन्याको कंधेपर उठा लिया और उसको ले जाकर ससुरालके द्वारपर उतार दिया। तदनन्तर कन्याके पिताको एक सहस्र रुपयेका चेक देकर कहा कि ‘ये रुपये दहेजके रूपमें कन्याके श्वशुरको दे दो।’ कन्याका पिता सकपका गया, वह कुछ भी समझ नहीं पाया। इतनेमें वह व्यक्ति आँखोंसे ओझल हो गया। जब चेकको भलीभाँति देखा तो ज्ञात हुआ कि कन्याको कंधेपर उठाकर लानेवाले पुरुष खयं महाराजा प्रतापसिंह ही थे।

२—जम्मूनिवासी एक पण्डितजी, महाराजाके पास

जाकर सुबक-सुबक कर रोने लगे । पूछनेपर उन्होंने बताया कि 'उनके अपने' घरकी पुत्रीकी भाँति पाली हुई गाय कुछ दिन हुए मिलती नहीं । प्रसिद्ध खोजीकी सेवा प्राप्त की तो उसने बताया कि गोखुर-चिह्नोंसे पता लगता है कि वह गाय चार-पाँच दूसरी गायोंके साथ अंग्रेजी राज्य स्यालकोटकी सीमामें ले जायी गयी है । मुझे भय है कि वह मेरी पुत्री बूचड़खानेमें मार दी जायगी ।' महाराजने पण्डितजीको उत्तरमें क्या कहा, इसका किसीको पता नहीं । दूसरे दिन जम्मूसे आनेवाली पहली रेलगाड़ीसे दो व्यक्ति स्यालकोट उतरे और वे सीधे बूचड़खाने पहुँचे और उसके अंग्रेज मैनेजरसे मिलकर गायें दिखानेकी प्रार्थना की । उसने दिखा दी । उनमें पण्डितजीकी गाय भी विद्यमान थी । उनमेंसे एक व्यक्तिने उन सारी गायोंको उसे बेच देनेके लिये कहा और मूल्य पूछा । मैनेजर कुछ निश्चय न कर सका और उसने उनका मूल्य डेढ़ लाख रुपये बतलाया । उस व्यक्तिने डेढ़ लाखका चेक काटकर मैनेजरको दे दिया । चेक डोगरी लिपिमें था, जिसको वह पढ़ नहीं सकते थे । इसलिये वे सोचने लगे कि कहीं धोखा न हो । प्रभुकी विचित्र लीलासे मिस्टर होपकिन (Hopkin), जो मैनेजरके सम्बन्धी थे, उनसे उसी समय मिलने आ गये । ये साहब कश्मीरके रेजीडेंट थे और जाड़ोंमें स्यालकोटमें निवास करते थे । उन्होंने महाराजा प्रतापसिंहके हस्ताक्षर पहचान लिये और बाहर आकर महाराजको सलामी दी तथा यथायोग्य आदर-सत्कार किया एवं सभी गायोंको जम्मू पहुँचानेका प्रबन्ध कर दिया । पण्डितजीको उनकी गाय मिल गयी और बाकी गायें योग्य ब्राह्मणोंको राज्यभरमें दे दी गयीं ।

३-कुल वर्ष पश्चात् महाराजको सूचना मिली कि जम्मूके ग्रामोंसे गाय चुराकर सीमापार पहुँचा दी जाती हैं, जहाँसे वे बूचड़खाने चली जाती हैं । इस सूचना-

की सत्यताका निर्णय महाराजने ऐसे किया कि उन्होंने भेष बदलकर चार-पाँच गायें लेकर सुचेत गढ़ सीमा-चौकीसे स्यालकोट सीमामें जाना चाहा । चौकीके अधिकारीने इनको पकड़ लिया और गायोंको पिंजरापोलमें रखवा दिया तथा इनको सिपाहियोंके पहरमें बैठा दिया । महाराजने अधिकारीको घूस देकर छूट जानेका भरसक प्रयत्न किया, किंतु वह नहीं माना । उसने कहा— 'मैं इस पापमें किसी प्रकार भी योग नहीं दे सकता; क्योंकि इन गायोंकी आगे जाकर हत्या ही होगी ।' प्रातःकाल जब सीमा-चौकियोंके कप्तान निरीक्षणके लिये वहाँ आये तो उनके समक्ष इनको प्रस्तुत किया गया और इनसे साधारण व्यावहारिक प्रश्न किये गये ।

'तुम्हारा नाम ?' 'प्रताप-सिंह' उत्तर मिला ।

'पिताका नाम ?' 'रणवीरसिंह' उत्तर था ।

'जाति ?' 'राजपूत' बताया गया ।

'काम ?' 'महाराजा जम्मू-कश्मीर' ।

अब तो कप्तानने सैनिक सलामी दी और चौकीके अधिकारी तथा पहरके सिपाहियोंकी ओरसे क्षमा-प्रार्थना की । महाराजने चौकीके रजिस्ट्रारोंका निरीक्षण किया और चले आये । चौकीके अधिकारीको दरबारमें बुलाया गया, उसकी ईमानदारीकी सराहना की गयी और उसकी विशेष पदोन्नति की गयी ।

४-जम्मूके श्रीरघुनाथ-मन्दिरमें बहुत-सी गायें थीं । एक दिन संध्याको वे दौड़ती हुई मन्दिरमें आ रही थीं कि उनकी भगदड़में एक मेम फँस गयी और कुचली गयी । अस्पतालमें जाकर उसकी मृत्यु हो गयी । उसके पतिने गायोंके मालिकसे पत्नीकी मृत्युके लिये दण्डधन माँगा । उसने अपने पक्षको उचितरूपमें प्रस्तुत करनेके लिये एक अंग्रेज वकीलको बुलाया । महाराजने मेमके पतिके साथ सहानुभूति प्रकट की और एक पण्डितजीको दोनोंको गीता सुनानेके लिये और एक प्रोफेसरको गीताका आशय अंग्रेजी भाषामें समझानेके लिये नियुक्त

किया । गीताका दूसरा अध्याय समाप्त होनेपर अंग्रेज पतिने हिंदू बनानेके लिये प्रार्थना की तो महाराजने कहा कि 'अपना धर्म सहजमें नहीं छोड़ना चाहिये । मैंने तो आपको गीता इसलिये सुनवाई है कि मृत्यु वास्तवमें क्या है, इसका भान होकर आपके व्यथित मनको शान्ति मिले । और आपकी प्रिय पत्नीकी गौओंद्वारा मृत्यु हो गयी । इसके लिये बीस हजार रुपयेका दण्डधन दे रहा हूँ ।' उसने धन लेनेसे इन्कार कर दिया और कलकत्तामें जाकर रामकृष्ण-मिशनके अधिष्ठातासे संन्यासकी दीक्षा ली ।

५—महाराजने एकपत्नीव्रतका निर्वाह किया, यद्यपि उनके कोई संतान नहीं थी और उनके सभी सगे-सम्बन्धी द्वितीय विवाहके लिये अनुरोध करते थे ।

यहाँतक कि अंग्रेज रेजिडेंटने भी कई बार उनसे कहा था ।

६—जब जम्मूमें प्लेगका प्रकोप हुआ तो लोग घर छोड़-छोड़कर भाग गये, उस समय महाराज वहीं रहे । इतना ही नहीं, किंतु वे स्वयं रोगियोंके घर जा-जाकर उनकी सेवा करते और मृतकोंकी अन्त्येष्टि कराते रहे । हितैषियोंके यह कहनेपर कि 'अपना अमूल्य जीवन संशयमें न डालें' तो वे उत्तर देते—'समयसे पूर्व मृत्यु नहीं आ सकती । फिर मृत्युभयसे मैं सेवा न करूँ, यह कैसी मूर्खता है ।' इनकी गुणगाथा आज-कल श्रीदयाकृष्णजी 'हिंदू समाचार'में प्रकाशित करा रहे हैं । ऐसे आदर्श नरेशोंपर भारत जितना गौरव करे, उचित है ।

भारतमें काल-गणना 'श्रीकृष्ण-संवत्'से होनी चाहिये

भारतमें जयसे अंग्रेजोंका शासन प्रारम्भ हुआ, हमारे यहाँकी काल-गणनामें ईसवी सन्का प्राधान्य हो गया । देशको स्वतन्त्र हुए तेईस वर्ष हो गये, परंतु हमारे तथा हमारी अपनी कहलानेवाली सरकारके सारे व्यवहार अब भी ईसवी सन्से ही चलते हैं । ईसवी सन्का प्रारम्भ ईसामसीह-से माना जाता है और वह हमें, निरन्तर भारतपर ईसाई अंग्रेजोंके प्रभुत्वका स्मरण दिलाता रहता है । शक-संवत् पुस्तकोंमें हमारा राष्ट्रीय संवत् स्वीकार कर लिया गया है, परंतु उसका व्यवहार नहींके बराबर है । इस मानसिक गुलामीसे छूटनेके लिये हमें भारतीय काल-गणनाको स्वीकार करना चाहिये । श्रीकृष्ण हमारे युग-पुरुष हैं । श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंमें वर्णन आता है कि श्रीकृष्णने जिस दिन इस धराधामका परित्याग किया, उसी दिन कलियुगका इस भूमिमें प्रवेश हो गया । श्रीकृष्णके द्वारा उपदिष्ट श्रीमद्भगवद्गीता हमारा सर्वमान्य ग्रन्थ है । विदेशी और विधर्मी भी इस ग्रन्थका एक स्वरसे आदर करते हैं । श्रीकृष्णने ही अपने सवा सौ वर्षके जीवन-कालमें दुष्टों और आततायियोंका दमन करके देशमें धर्मकी ध्वजा फहरायी

थी । हमारी राजनीति और धर्मपर श्रीकृष्णका अखण्ड प्रभुत्व है । ऐसी दशामें उचित यही होगा कि हमारे देशमें श्रीकृष्ण-संवत्का प्रचार-प्रसार हो, जिससे हमारे मनोमें निरन्तर श्रीकृष्णकी ही कल्याणकारिणी स्मृति जागरूक रहे और ईसवी संवत्के रूपमें हमारे मस्तिष्कोंमें धुसी हुई गुलामीका भूत हमारे सिरसे उतरे ।

श्रीकृष्णका महाप्रयाण हुए ५०७० वर्ष व्यतीत हुए । अतः चालू वर्ष श्रीकृष्ण-संवत् ५०७० माना जायगा । मास-गणना भी भारतीय काल-गणनाके अनुसार होनी चाहिये, जो सर्वथा वैज्ञानिक एवं अत्यन्त प्राचीन है । यह सर्वविदित है कि हमारी मास-गणना या तो सूर्यकी मेष आदि बारह राशियोंके अनुसार है । भगवान् सूर्य एक वर्षमें क्रमशः इन बारह राशियोंमेंसे होते हुए पूरे सौर-मण्डलका चक्कर लगा लेते हैं । मास-गणनाका दूसरा आधार चन्द्रमाकी गति है । चन्द्रमा भी एक मासमें पृथ्वी-मण्डलका चक्कर लगा लेते हैं तथा अश्विनी आदि सत्ताईस नक्षत्रोंको पार कर जाते हैं । वे एक मासमें दो नक्षत्रोंको पार करते हैं । जिस मासकी

पूर्णिमाके दिन चन्द्रमा जिस नक्षत्रकी परिधिमें स्थित होते हैं, उसी नक्षत्रके नामपर उस मासका नाम रक्खा गया है। चैत्रकी पूर्णिमाके दिन वे चित्रा नक्षत्रमें स्थित होते हैं, इसीलिये उसे चैत्रमास कहा जाता है। शक-संवत् श्रीकृष्ण-संवत्की अपेक्षा अत्यन्त अर्वाचीन है, वह ईसवी सन्से भी पीछेका है।

एक आन्ध्र सज्जनने 'श्रीवत्स' नामसे अंग्रेजीमें एक लेख लिखकर, जो हमारे कल्याण-कल्पतरुकी जनवरीकी संख्यामें प्रकाशित हो चुका है, इस ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। श्री जी० बी० सुन्दाराव नामके एक दूसरे सज्जन भी बहुत

पहलेसे इस दिशामें प्रयत्न कर रहे हैं, उनके भी हम कृतज्ञ हैं। कल्याण-कल्पतरुके लिये उन्होंने भी इस विषयमें दो लेख भेजे हैं, जो उक्त पत्रमें क्रमशः प्रकाशित होने जा रहे हैं। हम 'कल्याण'के माध्यमसे अपने देशवासियोंसे अनुरोध करते हैं कि वे इस विषयपर गम्भीर विचार करें और अपने दैनिक व्यवहारमें श्रीकृष्ण-संवत् तथा भारतीय मास-नामों तथा तिथियोंका ही उपयोग करें और हमारी अपनी सरकार-को बाध्य करें कि वह भी ईसवी अथवा शक-संवत्की जगह श्रीकृष्ण-संवत्को ही मान्यता दे। आशा है—सब इसे सहर्ष स्वीकार करके इसका प्रयोग आरम्भ कर देंगे।



घटमें त्रिवेणी

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त)

प्यास लगी थी। घट रीता पड़ा था। जल भरने पनघटपर चली।

गोधूलिकी बेल थी। गोपाल-ग्वाला गायोंको वनसे लौटाकर ला रहा था। लाख पेंव हो जुल्मीमें, पर है जादूकी पोट। बिना ही डोर अपनी ओर खींच लेता है वह जाना-माना चित्तचोर। पनघटपर पहुँची ही थी कि छैलकी बाँसुरीका स्वर कानमें पड़ा। मैं जल भरना भूल गयी।

कुछ पल—पल कहुँ कि युग बीते और काला वह तनसे तो है ही, मनसे भी कह दूँ तो उसके वेमनकी न होगी, सामने आ खड़ा हुआ। उससे मेरी आँखें चार हुई और मैं गोरी—गौर-वर्णाभिमानिनी 'न, न, स्वर्णाभामयी। जल भरना तो भूली ही थी, अपनेको भी भूल गयी।

आगे बढ़ा वह (बावला कहुँ उसे कि प्रेम-पण्डित ?) गायोंको दुलारता-पुचकारता, दुलार-पुचकारकर हाँकता-खदेड़ता, साथ-साथ इधर-उधर सर्वज्ञ समभावसे रस-फुहारें छोड़ता। उल्लास बिखेरता।

वह आगे बढ़ा और मैं उसके पीछे-पीछे लौट पड़ी '....' खोयी-सी, खिंची-खिंची-सी, सब सुध-बुध भूल, निपट छुटी-खुची-सी।

न जाने कब रीता घट लिये ही मैंने घरमें प्रवेश किया 'जी हाँ, रीता घट लिये ही। पर घट भले ही रीता रहा हो, मैं तो छुट-खुच कर भी भरी ही होकर आयी थी। पिपासा-निवृत्ता होकर भी, सच !

हाँ, मेरे कर्णघट बाँसुरीमें लहरा रही स्वर-सरस्वती भर लाये थे, नयन-घट दर्शनामृतकी यमुनासे लहर-ग्रहर हो रहे थे और हृदय-घट एकत्व-ज्ञानकी गङ्गासे पूर्ण था। मेरे आत्म-घटमें इस तरह त्रिवेणी उमड़ आयी थी। घट रीता है कि भरा ! उसे क्या परवाह जिसके घट त्रिवेणी बह रही हो।

मैं तृप्त थी 'आकण्ठ तृप्त। कृत-कृत्य थी '....' नितान्त कृतकृत्य !



परमार्थकी पगडंडियाँ

कर्मके प्रत्येक फलमें भगवान्की दयाको देखना चाहिये। काम होनेपर यह विचार करना चाहिये कि—‘यह मेरे पुण्यार्थका फल नहीं है और मुझे इसमें कोई आसक्ति या फल-कामना भी नहीं है। भगवान्ने इस काममें दया करके ही मुझे नियुक्त कर दिया है। अतएव भगवान्के आज्ञानुसार भगवान्की प्रीतिके लिये उत्साह, सावधानी और धैर्यपूर्वक, सत्य और न्यायको साथ रखते हुए मैं यह सेवा करूँ।’ और न होनेपर—‘न होनेमें ही कल्याण है, इसीलिये भगवान्ने नहीं होने दिया’—यह विश्वास करके आनन्दमग्न रहना चाहिये। ‘होने’ और ‘न होने’—दोनोंमें ही हर्ष-विषादका विकार न होकर, दोनोंमें ही भगवान्की कृपाका अनुभव करना चाहिये। ‘न होनेमें’ जैसे दुःखका विकार होता है, वैसे ही ‘होनेमें’ सुखका विकार होता है। विकार होते ही भगवान्की विस्मृति हो जाती है। न होनेमें तो भगवान्का स्मरण होता भी है, परंतु होनेमें भगवान्का स्मरण छूटना बहुत सहज है। अतएव किसी भी हालतमें मनमें विकार न होकर सदा प्रभुकी स्मृति बनी रहे और प्रभुका स्मरण करते हुए ही प्रभुके सौंपे हुए कार्यको प्रभुके प्रीत्यर्थ प्रसन्नतापूर्वक करें—ऐसी ही भक्तकी धारणा होनी चाहिये।

x x x x x

सबके लिये यह सबसे अधिक विचारणीय प्रश्न है कि मनुष्य-जीवनको प्राप्त करनेकी अनन्त युगोंकी तैयारियाँ कहीं विफल न हो जाय। आया हुआ मेघ, बरसा हुआ जल कहीं किसानकी गफलतसे खेतकी तैयारी बिना व्यर्थ न चला जाय। इस बातका प्रत्येक मनुष्यको ध्यान रखना चाहिये कि कहीं अनवरत बरसनेवाली प्रभुकृपासे हम अपनी भूलके कारण वञ्चित न रह जायँ।

x x x x x

निर्भय भक्तको अपनेको सर्वथा भगवान्पर छोड़कर निश्चिन्त हो रहना चाहिये। वे जब, जहाँ, जिस स्थितिमें, जवतक रक्खें, उनकी मर्जी है। भक्तका काम तो, बस, सतत प्रभुकी कृपाका अनुभव करना और अविच्छिन्नरूपसे प्रेमपूर्वक प्राणक्रियाकी भाँति स्वाभाविक ही उनका चिन्तन करना है।

x x x x x

आप क्या हैं, किस इच्छावाले हैं, आपका क्या होगा, क्या होना चाहिये, आपको किस चीजकी आवश्यकता है, वह कब मिलेगी—इन सारे प्रपञ्चोंको आप भूल जाइये। आप तो बस, केवल उनका चिन्तन ही करते रहिये—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

‘योगक्षेम’का निर्णय और ‘योगक्षेम’का वहन फिर वे स्वयं ही करेंगे, आप तो निश्चिन्त हो जाइये। इस बातको भी भूल जाइये कि ‘योगक्षेम’कुछ होना चाहिये और उसका निर्णय तथा वहन—मेरे अनन्य चिन्तन करनेपर भगवान् ही करेंगे। आपका तो सारा योगक्षेम, बस, एकमात्र भगवान्के चिन्तनमें ही पर्यवसित होकर भगवच्चिन्तनरूप ही हो जाना चाहिये। भगवत्कृपासे आपके एकान्त दृढ़ इच्छा करने-पर ऐसा होना कुछ बड़ी बात नहीं है।

भगवान्की लीला बड़ी मधुर है; उसमें बस यन्त्र बने रहिये।

x x x x x

भजनके लिये बीच-बीचमें एकान्त-सेवनकी बड़ी आवश्यकता है। एकान्तके बिना विरोधी वृत्तियोंका नाश सहजमें नहीं होता। सच्चा एकान्त तो वह है, जिसमें हमारे मनमें एकमात्र भगवान् ही रह जाते हैं; दूसरी सारी शुभाशुभ वृत्तियाँ विलुप्त हो जाती हैं। परंतु ऐसा एकान्त सहज ही नहीं मिलता। इस

एकान्तकी प्राप्ति के लिये भी बाह्य एकान्तकी आवश्यकता है। जहाँतक वन पड़े, बाहरी बातों से सर्वथा मनको हटाकर, मनको जगत् से खाली करके, उसमें एकमात्र भगवान् को स्थिरभावसे पधारानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

x x x x x

हमारी प्रत्येक बातको भगवान् केवल सुनते ही नहीं हैं, हम जो मनमें सोचते हैं, छिपाना भी चाहते हैं, उसे भी वे देख लेते हैं। हम मनमें जो कुछ कहते हैं, उसे भी वे सुन लेते हैं एवं हमारी स्नेहिल भावधारासे वे बड़े ही प्रसन्न होते हैं। हमारी सुननेवाला और कोई भी नहीं है, यह तो उनकी विशेष रूपा है। हम किसी औरको सुनानेकी कल्पना भी कैसे कर सकते हैं? किसी औरसे हमारा सम्बन्ध ही क्या है? हम तो एकमात्र उन्हींको अपना मानते रहें, अपनेको एकमात्र उन्हींकी वस्तु मानते रहें। और है भी वस्तुतः ऐसा ही। फिर दूसरा कोई हमारी बातका सुननेवाला क्यों बच रहना चाहिये और क्यों हमारे मनमें दूसरेको सुनानेकी कल्पना भी होनी चाहिये? हम सदा-सर्वदा प्रसन्न रहें, उनके समीप रहें, उनको समीप रखें। जीवन-मरणमें तथा मरणोत्तर भी उनका नित्य सङ्ग बना रहे—इसमें कभी न जरा भी संदेह करें और न कभी अन्यथा समझें।

x x x x x

भगवान् अपने प्रेमीको अपने हृदयमें वसाते ही नहीं हैं, उसको अपना हृदय ही बना लेते हैं। अतः प्रेमी उनका हो जाता है। अतएव वह सदा अपनेमें उनको और उनमें अपनेको देखता रहे। जगत् को वह देखता ही क्यों है? फिर भी जगत् देखता है तो जगत् उनका खेल है। वे ही जगत् बनकर प्रेमीके सामने आते हैं। वे किसी भी रूपमें आवें—उन्हें पहचानता रहे और उनकी विचित्र भाव-भङ्गिमा देख-देखकर हँसता रहे; उदास कभी न हो।

x x x x x

प्रेमीकी उदासी उनको बहुत अधिक उदास बना देती है। उनको इससे सदा बचाता रहे—स्वयं सदा प्रसन्न रहकर, प्रफुल्लित रहकर। चिन्ता, शोक, भय, विपाद उसके समीप कभी आ ही न सकें। प्रेमीके पास तो वस, एकमात्र वे प्रियतम प्रभु ही रहें और रहें उनके दैवी गुण-समूह। चिन्ता आदिका वेश धरकर कभी वे खेल करें तो उनको वह पहचान लिया करे। फिर वह आनन्ददायी नाटकमात्र रह जायगा—चाहे नाट्य चिन्ता-शोकका हो। अतएव प्रेमी निर्भय, निश्चिन्त रहे; प्रसन्न रहे; निरन्तर प्रसन्नता फैलाता रहे।

x x x x x

जहाँतक वने, प्रभुका चिन्तन प्रेमपूर्वक करते रहें। उनके विरुद्धपर विश्वास रखें। वे सदा अपने स्वभावकी ओर ही देखते हैं, हमारी ओर नहीं। हमारी तो चाह और विश्वासभर होना चाहिये, हृदयकी सारी कामना-वासना वे आप ही नष्ट कर देंगे। उनकी वस्तु बन जाना चाहिये, फिर वे आप ही सँभालेंगे, सँभाल ही रहे हैं। हम तो वस, यही निश्चय रखें और इसी निश्चयको निरन्तर सुदृढ़ करते रहें—‘मैं भगवान् का हूँ, भगवान् मेरे हैं। मैं कैसा भी हूँ, उनका ही हूँ। वे कितने ही महान् हों, वे ही मेरे हैं, निश्चित मेरे हैं।’

x x x x x

भगवान् को रिझाने के लिये हमारी अयोग्यता-निर्वलता, दीनता-हीनता ही प्रधान साधन है। हम वस, एकमात्र उनको अपना मानते रहें, एकमात्र उनके अपने वने रहें। फिर वे आप ही जैसे चाहेंगे, हमें गढ़ लेंगे। वे तो गढ़ रहे ही हैं, गढ़ भी चुके हैं। हम उनपर विश्वास करके आज ही उनके आश्रयके बलपर

अपनी दीनता-हीनतापर विजय प्राप्त कर सकते हैं। उनका बल हमारे साथ है और सदा हमारे संरक्षणके लिये प्रस्तुत है। हम मनसे न दूसरेके रहें, न कोई दूसरा हमारा रहे। समस्त प्राणि-पदार्थ-परिस्थितिके अधिकारसे, अधीनतासे हम अपने मनको मुक्त कर लें। हम केवल उनके और वे केवल हमारे रहें। ऐसा ही है—यही सत्य है। हम विश्वास करें, अनुभव करें।

x x x x x

संसारमें जैसा होता आ रहा है, वही होगा। इसमें नयी बात क्या है? यहाँका स्वरूप ही ऐसा है। अपनी तरफसे किसीके साथ भी, जरा भी घुरा वर्ताव नहीं होना चाहिये। सभीमें भगवान् हैं—इस नाते सबकी पूजा यथायोग्य करनी चाहिये, अपनी ओरसे त्याग-भावना रखनी चाहिये।

x x x x x

देखो! गङ्गाकी धारा एक बार जो वही सो अनवरत अपनी दिशामें वह ही रही है, कभी भी उसमें विराम नहीं होता। न वह यह प्रतीक्षा ही करती है कि कोई मुझे कहे या जिस ओर वहनेको कहे, उस ओर वहूँ। इसी प्रकार तुमपर जो श्यामसुन्दरकी प्रेमामृतधारा वहने लगी है, वह अनवरत वहती ही रहेगी। उसमें न विराम हुआ है न होगा। तुम कैसे हो,—क्या हो—इसकी बात वह नहीं देखेगी। वरं समस्त बाधा-विघ्नोंको चूर-चूर करती हुई वह तुम्हारी ओर वहती ही रहेगी और तुम्हें आत्मसात् कर ही लेगी। वह स्वयं ही वहकर, स्वयं ही तुम्हें अपने अंदर मिला लेने योग्य बना रही है; बना ही लेगी। जब वह एक बार तुम्हारी ओर वह चली है, तब तुम्हारा उसमें आत्मसात् हो ही गया। यही समझो; समझो ही नहीं, वास्तवमें ऐसा ही है।

x x x x x

संसारसे आशा रखना ही दुःखका हेतु है। न कभी आशा पूर्ण हुई, न हो सकती है। अतः यहाँसे निराश होकर नित्य निरन्तर भगवान्में लगे रहनेसे ही दुःखका नाश तथा सुखकी प्राप्ति होती है। जगतमें विषयोंसे न कभी कोई सुखी हुआ है, न हो सकता है। जैसे ज्वालामयी अग्निमें शीतलता नहीं, वैसे 'दुःखालय' संसारमें सुख नहीं। संसारके प्रवाहमें न वहकर भगवत्प्रेमके सुधाप्रवाहमें वहना चाहिये—

तुम सुखी रहो, संतुप्त रहो, संतुष्ट रहो, नित निर्विकार।

उमड़े उरमें निर्मल पावन रस-सुधा-सिंधु अविरत अपार ॥

तुम हृद्य रहो नित्य उसमें, बन स्वयं रसामृत-सुधागार।

देखो प्रभुका ही नित नूतन अति मधुर रूप सौन्दर्य-सार ॥

रह जाय न कुछ भी अन्य भाव प्राणी-पदार्थ जगके असार।

घुल-मिल जाओ प्रभुमें अनन्त कर देश-कालकी अवधि पार ॥

x x x x x

संसारमें तो संताप ही भरा है—अतएव संसारसे सुखकी आशा रखनेवाले सदा संताप ही भोगते हैं—चाहे वे किसी भी ऊँची या नीची सांसारिक स्थितिमें हों।

अपनेमें दोष दिखायी देना भगवान्की कृपासे ही हुआ करता है। तुमपर भगवान्की बड़ी कृपा है, इसीसे सांसारिक भोगोंके लिये तुम दुखी नहीं होते और अपनेमें दोष एवं प्रभुमें गुण देखकर प्रभुके प्रति परम प्रेम तथा विश्वास बढ़ानेका प्रयत्न करते हो—यह परम सौभाग्य है। तुम्हारा प्रेम सचमुच अनोखा ही है। भगवान्को सब पता है। वे जिसमें प्रेम देखते हैं, वस्तुतः उसीमें प्रेम है। तुम भगवान्के हृदय, उनके शील-स्वभाव तथा उनकी प्रीतिकी ओर देखकर सदा परम सुखी रहो; कभी भी निराश मत होओ। बस, इतना ही कि तुम भगवान्को सदा अपना समझो। तुम भगवान्को जानो, भगवान् तुमको जानें।

तुम भगवान्‌को देखते रहो, भगवान्‌ तुमको देखते रहें। तुम पूरे उनके, वे पूरे तुम्हारे; तुम उनमें, वे तुममें। भगवान्‌के वचन हैं—

(१) 'मयि ते तेषु चाप्यहम्—वे मेरेमें रहते हैं, मैं उनमें रहता हूँ।'

(२) 'मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि।—वे मेरे सिवा किसीको नहीं जानते, मैं उनके सिवा किसीको नहीं जानता।'

(३) 'हृदयं मह्यं हृदयं त्वहम्।—वे मेरे हृदय हैं, मैं उनका हृदय हूँ'

मनमें सदा निश्चय और प्रत्यक्ष अनुभव करते रहो कि भगवान्‌ कभी किसी हालतमें तुमसे अलग नहीं होते। दूर जानेकी तो कल्पना ही नहीं। सदा उन्हें अपने पास, अपने साथ देख-देखकर प्रमुदित होते रहो—

पलभर नहीं छोड़ते प्यारे, पलभर नहीं छोड़ते साथ।

सदा-सदा समीप रहते वे, घुले-मिले प्राणोंमें नाथ ॥

देख-देखकर मैं उनका वह पल-पल बढ़ता नूतन रूप।

पाती नित्य-निरन्तर पावन मैं प्रमोद अति मधुर अनूप ॥

x x x x x

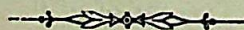
वास्तवमें संसार है ही नहीं। बिना ही हुए लीलासे भगवान्‌ ही जगत्‌के रूपमें हमें भासते हैं। चाहे वे जगत्‌के रूपमें दीखें या न दीखें, हैं वे ही। संसार तथा संसारके जन्म-मरण, सुख-दुःख, लाभ-हानि, संयोग-वियोग, मेरा-तेरा आदि द्वन्द्वोंमें सत्ताबुद्धि ही राग-द्वेष उत्पन्न करती है तथा दुःख देती रहती है। जगत्‌ दिखायी भी दे, परंतु उसमें सत्ताबुद्धि न रहकर लीलाबुद्धि हो जाय। उसके अंदर लीला करते भगवान्‌ दिखायी दें; केवल उन्हींकी सत्ताका बोध हो तो फिर राग-द्वेष कहाँ रहें, अपना-पराया कहाँ रहे; यही वस्तु सत्य है। यह सत्य ही श्रीकृष्ण हैं। इन श्रीकृष्णमें नित्य-निरन्तर रमण करते रहना—यही साधन होना चाहिये और यही साध्य। तुम तो सदा प्रसन्न ही रहो—भगवान्‌ श्रीकृष्ण जब तुम्हारे हैं—तुम जब उनके हो चुके हो, तब अप्रसन्नताकी कल्पना ही तुम्हारे लिये नहीं रही। बाहरकी तरङ्गमें कभी कोई मलिनता दीखती है तो वह बाहरके संसर्गका ही परिणाम है। वास्तवमें उस परम निर्मल रस-सुधा-सागरमें तो कहीं किसी मलिनताकी कल्पना ही नहीं है।

तुमने पूछा है—मेरे लायक सेवा लिखिये। सो तुम्हारे लायक एक ही सेवा है—तुम नित्य-निरन्तर परमप्रसन्न रस-सागर देने हुए अपने अंदर रसमय-रसिकशेखर भगवान्‌ श्रीश्यामसुन्दरको अवगाहन कराते रहो। तुममें कोई भेद न था, न है, न होगा। पर लीलाके लिये जो भेद है, उसमें भी सदा अभेदका, जो पृथक्ता है, उसमें भी सदा एकताका अनुभव करते रहो। और कुछ रहे ही नहीं। वस,

x x x x x

तुम कहते हो—'मेरी स्थिति ज्यों-की-त्यों है, कुछ कम भले ही हो, बढ़नेके लिये स्थान नहीं है।' सो ऐसी बात नहीं। नयी-नयी प्रवृत्तिमें नयी उमंग रहती है, स्वाभाविक होनेपर उसमें सहज भाव आ जाता है, पर, वही तो जीवन है। तुम अपनेको भगवान्‌की ही वस्तु पूर्णरूपेण मानते रहो। मानते क्या रहो—हो ही। फिर वे धोना चाहेंगे, धोयेंगे; बिगाड़ना चाहेंगे, बिगाड़ेंगे। पर वह धोना और बिगाड़ना होगा, उनका अपना ही, अपनेमें ही तथा अपने लिये ही। तुम चिन्ता करते हो, यह अवश्य निकाल देने लायक दोष है। तुम तो वस, उन्हींकी चिन्ता करो—अपनी नहीं।

x x x x x



मांस मनुष्यका स्वाभाविक भोजन नहीं है !

(१)

(अर्नेस्ट क्रासबी (Ernest Crosby)

के ज्ञानपूर्ण बृहत् साहित्यसे
चुने हुए वाक्य)

कसाईगरी निर्दयतापूर्ण कार्य है—यह स्वतः ही इतना स्पष्ट है कि इसके विवेचनकी आवश्यकता नहीं और इस निर्दयताका लक्ष्य सामान्यतः पशुका प्राण ही रहता है ।

अन्तमें कसाईखानेमें पशु ऐसे मनुष्योंद्वारा प्राप्त किये जाते हैं, जो यन्त्रवत् काम करते-करते यन्त्रवत् बन गये हैं; जिनके लिये प्रति मिनट नियत संख्यामें पशुओंकी हत्या करना जरूरी होता है और जिन्हें (पशुके शरीरमेंसे) प्राण निकालनेके पूर्व ही चमड़ा उधेड़नेकी क्रिया भी आरम्भ कर देनी पड़ती है । कई बार तो सफेद मांस प्राप्त करनेको ऐसा करना पड़ता है कि प्राण धीरे-धीरे विलम्बसे निकलें ।

हत्याके स्थानपर पशु बहुत बौखलाया हुआ आता है और उसके द्वारा होनेवाले प्रतिरोधको रोकनेके लिये उसकी आँखें फोड़ना अथवा पूँछ इस हदतक मरोड़ना जरूरी होता है कि वह टूट जाती है । इस कसाईगरीके व्यवसायमें लगे हुए लोगोंके लिये दया (humanity) का उपदेश व्यर्थ है । हम भी यदि इस व्यवसायको अपनावें तो हम भी उसी तरह करेंगे ।

खानेके लिये प्राणि-हत्याका विचार ही मूलतः निर्दयतापूर्ण है और निर्दयताके साथ क्रौमलता (cruel humanity) नहीं हो सकती । 'जीवोंके प्रति निर्दयता-निवारक समाज' के अतिशय भयभीत हुए एक अफसरने, जो चिकागो (Chicago, U. S. A.) के कसाईखानेके निरीक्षण-कार्यपर प्रथम बार गया था, (वहाँके कसाई-व्यवसायवालोंसे) पूछा—'तुमसे ऐसा व्यवसाय किस प्रकार अपनाया गया ?' और निरुत्तर कर देनेवाला यथार्थ उत्तर मिला—'हुजूर ! जो घृणित कार्य आपको स्वयं करना पड़ता, वह आपके लिये हमलोग कर देते हैं ।' यह कर्म मनुष्यमात्रको पशु बना देनेवाला (brutalising) तथा

निर्दय (cruel) है और मांसकी माँग उत्पन्न करनेवाले लोग ही इसके लिये जिम्मेदार हैं ।

और यह बड़ी आश्चर्यपूर्ण शठता है कि कत्तलके लिये हम सबसे अधिक निर्दोष पशुओंको चुनते हैं । यदि हिंसक जीवोंका शिकार किया जाय तो यह बात कुछ हदतक न्यायसंगत हो सकती है, लेकिन हमलोग निरपराध हरिण, गाय और भेड़ आदिको कत्तल करना ही पसंद करते हैं । क्या मांस-भक्षी जीवोंका मांस घृणित है ? यदि है, तो फिर हम मांस-भक्षी बनकर अपने मांसको घृणित क्यों बनाते हैं ?

मांसके गंदे और अस्वास्थ्यकर होनेके अतिरिक्त यह बहुत सरलतासे प्रमाणित किया जा सकता है कि मनुष्यके लिये मांस स्वाभाविक खाद्य नहीं है । यदि यह स्वाभाविक खाद्य होता तो क्या आप कसाईकी किसी भी दूकानपर जाकर हत्या किये हुए पशुके मांसका एक टुकड़ा काटकर अपने मुँहमें डालनेके इच्छुक नहीं होते ? किसी फल या शाक-सब्जीके लिये ऐसा करनेमें आपको कोई हिचकिचाहट नहीं होगी । यदि मांस आपका स्वाभाविक खाद्य होता तो क्या आपको कुत्ते या बिल्लीका मांस खानेमें केवल इसलिये धिन लगती कि आप उसके अभ्यासी नहीं हैं ? कोई नया फल आपके सामने आवे तो आप उसको अवश्य चखना चाहेंगे । कोरियामें मांसके लिये कुत्तोंको पाला जाता है और सिद्धान्ततः उनके मांसमें एवं अन्य मांसमें कोई अन्तर नहीं है । एक बिल्लीके बच्चेको और एक मुर्गीके बच्चेको एक ही घरमें छोड़ दें तो बिल्लीका बच्चा मुर्गीके बच्चेपर झपटकर उसे खाकर यह स्पष्ट कर देगा कि उसका स्वाभाविक खाद्य क्या है ? बिल्लीके बच्चेकी बजाय यदि एक मानवके बच्चेको वहाँ छोड़ दिया जाय तो वह मुर्गीके बच्चेको खानेका प्रयत्न नहीं करेगा, किंतु सेव खानेकी चेष्टा करेगा; क्योंकि वह उसका स्वाभाविक खाद्य है ।..... इन सब बातोंसे पता चलता है कि मांस मानवका स्वाभाविक खाद्य नहीं है ।

मानवके शरीरकी रचना भी इस बातकी पुष्टि करती है । उसकी आँतें मांस-भक्षी जीवों-जैसी छोटी न होकर तृण-भक्षी जीवोंकी तरह लंबी होती हैं । उसके जबड़े ऐसे ढंगसे सटे हुए होते हैं कि वे एक-दूसरेके सहयोगसे किसी

वस्तुको पीस सकें, जैसे कि घोड़े, गाय और ऊँटके होते हैं; वे कुत्तोंके जबड़ोंकी तरह खड़े-से लो होए नहीं होते। मनुष्यके मांस-भक्षी दाँत नहीं होते, जिनको अक्सर नुकीला (eye-teeth) कहा जाता है। यह बात निरामिषभोजी वनमानुष (anthropoid ape) में बहुत अधिक स्पष्ट दिखायी देती है।

बहुत बड़े शरीर-रचना-विशेषज्ञ एवं प्राकृतिक इतिहासज्ञ रिचर्ड ओवेन (Richard Owen) बहुत पहले ही बता गये हैं कि वनमानुष और सभी चतुर्भुज (quadrumane) अपना-अपना पोषण फलोंसे, अनाजसे एवं दूसरे रसीले शाक-सब्जियोंसे प्राप्त करते हैं और इन जानवरोंकी शरीर-रचनासे मनुष्यकी शरीर-रचनामें अत्यधिक समानता मनुष्यकी फलाहारी प्रकृतिको स्पष्टरूपसे प्रदर्शित करती है।^१ और इस तथ्यकी प्रामाणिकता आज उस समयकी अपेक्षा अधिक है, जिस समय ओवेन साहबने यह लिखा था। मनुष्यके लिये मांस खाना स्वाभाविक है ही नहीं।

(२)

('लेडी मार्गरेटके फलाहारी चिकित्सा-भवन'
(The Lady Margaret Fruitarian Hospital)
के अन्तर्गत अर्नशा कूपर (Earnshaw Cooper)
द्वारा संस्थापित भोजन-शास्त्र-विभागके अध्यापक
(Lecturer on Dietetics) जेम्स ओल्डफील्ड
(James Oldfield, M. A., D. C. L., M. R. C. S.) साहबके लेखोंमेंसे चुने हुए अनुच्छेद)

सबसे प्राचीन औषधविज्ञानवेत्ताने गणित-सम्बन्धी सिद्धान्तोंके अनुसार सोचना आरम्भ किया और वह ठीक ही इस निष्कर्षपर पहुँचा कि किसी भी जीवके मल (waste matter) को यदि शीघ्र ही पूर्णरूपसे अलग नहीं कर दिया जाता तो वह मल उस जीवके लिये रोगका कारण बन जाता है।^१

उस वैज्ञानिकने यह भी ध्यानपूर्वक देखा कि मांस-भक्षी पशुओंका मल सबसे अधिक हानिकारक होता है। (तृण-भक्षी) पालतू जानवरोंको गुफाके अन्तिम छोरतक ले जाकर रक्खा जा सकता है और इससे किसीको कोई हानि नहीं होती; किंतु (मांस-भक्षी) कुत्ते, बिल्ली या मेड़िये जिस गुफामें बंद करके रक्खे गये हों, उससे कई वर्षोंतक दूर रहना चाहिये। उस विज्ञानवेत्ताने

भविष्यके लाभ उठानेके लिये अपने मनमें यह भी निश्चय जान लिया था कि (तृण-भोजी) पशुओंका मल जमीनपर जहाँ-तहाँ खुला पड़ा रहता है तो उनका घाससे लेकर शाक-सब्जी-जैसी वस्तुएँ पैदा करनेवाली भूमितक सभीके द्वारा खादके रूपमें शीघ्र ही उपयोग कर लिया जाता है; जब कि मांस-भक्षी पशु जन्मजात स्वाभाविक ज्ञानके द्वारा भूमिको खोदकर अपने मलको शरीरसे बाहर निकलते ही ढँकनेके आदी होते हैं।

प्रकृतिने शरीरमेंसे मल-मोचनके लिये मानव-शरीरमें जो आश्चर्यजनक यन्त्र लगाया है, उसपर क्षणभरके लिये हम विचार करें। सबसे पहले हमें असंदिग्ध रूपसे मनमें यह निश्चय कर लेना चाहिये कि मानव-मल (human waste matter) उस मलको उत्पन्न करनेवाले व्यक्तिके लिये विषकी तरह खतरनाक है; अतः यदि वह उस मलमें सदा वर्तमान रहनेवाले रोगोंके आक्रमणसे बचना चाहता है, तो उसको नियमपूर्वक शीघ्रतासे इन निरर्थक पदार्थोंसे छुटकारा पा लेना चाहिये। हमें दूसरी बात सदाके लिये अच्छी प्रकार समझ लेनी चाहिये कि सभी प्रकारके मांस-आहारसे उत्पन्न ये निरर्थक मल-पदार्थ सबसे अधिक खतरनाक होते हैं। चिकित्सालयमें प्रवेश पानेपर एक मांसाहारी रोगीको वस्ति (Enema), रेचक (Purgative) या वमन करवानेवाली ओषधि (Emetic) या ये तीनों ही देना एक परिचारिकाका प्रथम कर्तव्य होता है, जो अनुचित नहीं है।

इंग्लैंडमें अत्यधिक अस्वस्थ हो जानेवाले व्यक्तिके लिये जो साधारण भोजन है, वह बहुत ही अस्वाभाविक तथा मूर्खतापूर्ण है। पाश्चात्य लोगोंको उनके माता-पिता-द्वारा—जिन्हें स्वयं भी इनकी अपेक्षा अधिक ज्ञान नहीं है—यह शिक्षा दी जाती है कि स्वास्थ्य और शक्तिके लिये मांस ही श्रेष्ठ आहार है। अबतक मद्य-मांस ही इसके लिये उपयुक्त समझे जाते रहे हैं; किंतु अब मद्यसम्बन्धी भ्रमका निराकरण हो चुका है और विश्वके बुद्धि-प्रधान और सुसंस्कृत वर्गोंमें मांसकी श्रेष्ठताका भ्रम भी शीघ्रतासे दूर होता जा रहा है। मध्यवर्गीय और निम्नश्रेणीके लोग ही अस्वस्थ होनेपर चिकित्सालयोंमें ले जाये जाते हैं और अधिकतर ये लोग ही मांसाहारी होते हैं।

मैं जब कभी किसी मांसाहारी बीमारके लिये बुलाया जाता हूँ तो मैं सदा उसी नेगचारको पूरा करता हूँ। शरीरको अधिक परिश्रमके बोझसे एवं स्वयं विपोषादनकी क्रियासे मुक्त करनेके लिये सबसे पहला काम यही है। इसके विपरीत मुझे शुद्धाहारी रोगियोंसे काम पड़ता है और यदि उन्हें ४८ घंटे पूर्व भी शौच हुआ रहता है तो भी मैं निश्चिन्त रहता हूँ; क्योंकि ऐसे बीमारका मल छोड़े या गाय-जैसा होता है और उसमें सड़क और विष पैदा नहीं हुआ करता। जब हम इन बातोंको स्पष्टतया ग्रहण कर लेते हैं, तभी हम अच्छी प्रकार समझ सकते हैं कि प्रकृतिने हमारे शरीरको भीतरी जहरसे मुक्त रहनेके लिये हमें कितना आश्चर्यजनक यन्त्र प्रदान किया है।

यह यन्त्र प्रायः एक प्रकारसे निरापद (fool proof) है; किंतु जिस तरह बहुतसे ऐसे व्यक्ति भी हैं, जो जिस मोटरगाड़ीको चलाते हैं, उसीको खराब कर डालते हैं और जिनके पास कोई भी बड़ी अधिक कालतक ठीक समय नहीं देती, उसी तरह बहुत बड़ी संख्यामें ऐसे लोग भी हैं, जो न तो अपने और न अपने वच्चोंके पाचन-क्रियावाले अवयवोंके सुकुमार यन्त्रोंकी ठीकसे सँभाल कर सकते हैं।

सभी पीठकी रीढ़वाले प्राणियोंका निर्माण एक खोखली लंबी नली (tube) के आधारपर हुआ है, जिसके चारों ओर स्नायु-नाड़ियाँ और रक्त-परिवाहक अङ्ग (Circulatory organs) बने हैं। खायी हुई वस्तु इस नलीके एक ओरसे प्रवेश करती है और धीरे-धीरे आगे बढ़ती हुई दूसरी ओरसे निकल जाती है। जैसे-जैसे यह आगे बढ़ती है, पाचक रसोंकी रासायनिक क्रिया इसपर होती रहती है और वे इसमेंके विविध पोषण-द्रव्योंको आत्मसात् करते रहते हैं तथा बचे हुए मैलेको यह बाहरकी ओर ढकेलती रहती है। शरीरके जीवित पदार्थोंके अनुपयोगी अंश भी योथी नलीके इस भागमें फँके जाते हैं, जो आगे जाकर मल-निकासी-नली (Sewage tube) का रूप धारण कर लेते हैं और क्रमशः ये चीजें इस नलीके अन्ततक पहुँचा दी जाती हैं, जहाँसे वे बाहर निकल

जाती हैं। यह सिद्धान्त कितना सीधा-सादा है, प्रयोगमें कितना सुन्दर है; यह यन्त्र प्रायः एक सौ वर्षोंतक कार्य करते रहनेके लिये बनाया गया है, किंतु मूर्ख लोग अवधिके पूर्व ही इसको खराब कर डालते हैं।

इस यन्त्रके सुचारु-रूपसे चालू रहनेके लिये मनुष्यको उचित है कि—

१. इसके ढाँचेकी बनावटके अनुरूप ही इसमें खानेकी वस्तु डाले।
२. खाद्य-पदार्थ ऐसी अवस्थामें डाले, जिससे इसपर यह यन्त्र सरलतासे अपनी क्रिया कर सके।
३. इतनी मात्रामें डाले, जो शरीरकी आवश्यकताके अनुकूल हो।

४. इतने समयके अन्तरसे डाले कि जिससे इस यन्त्रको विश्रामके लिये तथा कोई खराबी आ गयी हो तो उसकी मरम्मतके लिये पर्याप्त अवसर मिल सके।

मांसाहारका त्याग कर देना चाहिये। मांसाहार आँतोंकी क्रिया समीचीन व्यापारमें रुकावट डालता है। मांसाहारसे जो अनुपयोगी पदार्थ (मल) बचता है, वह सड़कर बड़ी आँतोंकी पेक्षियों (Colonic muges) से रुकावट डालनेवाला विषैला प्रभाव उत्पन्न करता है। मांसाहारके अनुपयोगी पदार्थों (Waster matter) से शरीरपर इतना भारी स्वाभाविक विषैला प्रभाव उत्पन्न होता है कि प्रकृतिने इसी कारण मांसभक्षी पशुओंकी बड़ी आँत लंबाईमें छोटी बनायी है, जिससे कि सड़नेवाला अनुपयोगी पदार्थ (Decomposing matter) पशु-शरीरमें आवश्यकतासे अधिक एक क्षण भी और न ठहर सके। प्रकृतिने आस-पासमें रहनेवाले अन्य प्राणियोंके लिये इसके हानिकारक भयंकर परिणामोंको इस बातसे भी स्पष्टतया जता दिया है कि उसने मांस-भक्षी पशुओंको यह स्वाभाविक समझ दी है कि जिससे वे जमीनमें गढ़ा-सा खोदकर उसमें मल विसर्जन करते हैं और फिर उसको ढँक देते हैं; क्योंकि यह वस्तु जहाँ-तहाँ खुली पड़ी रहनेसे बड़ी हानिकारक है।

हमारे स्वजन ये पशु !

(लेखक—श्रीगेरार्ड कर्टलर, एम्० ए०)

मनुष्य इतना अधिक अज्ञानग्रस्त है कि प्रायः वह सभी धर्मों तथा जीवनदर्शनोंद्वारा उपदिष्ट सृष्टि-संचालनके महान् नैसर्गिक विधि-विधानों, कार्यकारणके सर्वस्पर्शी सिद्धान्त और प्रेमके सर्वाङ्गपूर्ण नियमोंतककी बहुत अधिक हानि उठाकर भी अवहेलना कर बैठता है। धर्म-प्रवर्तक जाव (ProPhet Jeb) ने उसे इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—‘जो लोग खलताका हल जोतते हैं और मक्कारीका बीज बोते हैं, वे फसल भी उसीकी काटते हैं।’

इन नियमोंका उल्लङ्घन करनेपर मनुष्यको उसका समुचित दण्ड भी भोगना पड़ता है। तथाकथित सभ्य देशोंमें महान् भौतिक उन्नतिके उपरान्त भी अस्पतालें एवं विकृत मस्तिष्कसे पीड़ित (पागल) लोगोंके लिये निर्मित आवास-गृहों (पागलखानों) की संख्या तथा अपराधोंका परिमाण भी अन्य देशोंकी अपेक्षा कहीं अधिक है और कैंसर, हृदयरोग एवं पोलियो आदि कितने ही दुस्साध्य और निवृष्ट रोगोंमें सतत अभिवृद्धि हो रही है।

सच्चे धर्म अथवा नैतिकताको, फिर चाहे हम उसका कोई भी नामकरण करें, मानव अपने घोर अज्ञानमें भूल गया है तथा सर्वथा अप्राकृतिक जीवन बिताने लगा है। उसने जितना अधिक अवाञ्छनीय व्यवहार पशुओंके प्रति किया है, वैसा अन्य किसी विषयमें नहीं किया। उसका प्रतिशोधपूर्ण भयानक फल होना भी नितान्त स्वाभाविक और अनिवार्य है।

उसके अज्ञानकी चरम-सीमा तो देखिये। सम्पूर्ण जीव-सृष्टि एक है और सभीके जीवनको बनाये रखनेके लिये, फिर चाहे उसका उच्चतम रूप हो अथवा निम्नतम, एक ही प्राणवायु समानरूपस सभीके लिये आवश्यक है तथा यह कहनेका साहस कौन कर सकता है कि जीवनका सर्वश्रेष्ठ रूप कौन-सा है? बहुत-से मूर्खन्य विचारकों तथा दार्शनिकोंने उसका श्रेय मनुष्यको नहीं दिया। श्रीमार्क ट्वेन (Mark Twain) ने लिखा है—‘मनुष्य ही एकमात्र ऐसा पशु है, जो झेंपता है और जिसे झेंपना चाहिये।’

श्री रिचर्ड बाक्सटर (Richard Baxter) कहते

हैं—‘सभी पशुओंमें मनुष्य-पशु दूसरोंका तथा स्वयंका भी सक्ते गया-नीता और क्रूरतम शत्रु है।’

विलियम सरोयन (William Saroyan) का कथन है—‘भगवदीय सृष्टिके समस्त जीवधारियोंमें एकमात्र मनुष्य ही अपनी सर्वश्रेष्ठताका झूठा दम्भ भरता है।’

शेक्सपियर (Shakespeare) की उक्ति है—‘सर्वाधिक निर्दयी तथा कठोरतम पशु भी मनुष्य-जातिसे अधिक दयालु है।’

पशुओंने मनुष्यको सदैव दिया ही दिया है। वे सभी निष्ठा तथा स्नेह ही प्रदर्शित करते रहे हैं और प्रायः मानवके लिये मर-मिटनेतकको सदा प्रस्तुत रहे हैं।

यहाँ हम उन थोड़े-से महान् व्यक्तियोंका उल्लेख कर रहे हैं, जिन्होंने पशुओंके प्रति मैत्रीभावनाकी भगवदीय देनको गँवाया नहीं।

प्रेसिडेंट लिंकन (President Lincoln) ने लिखा था—‘जिस व्यक्तिके कुत्ते तथा बिल्लीकी दशा उससे अच्छी नहीं है, उस व्यक्तिके धर्मकी मैं कोई परवा नहीं करता।’

स्वेडनसे भारत-भ्रमणके लिये आये हुए मेरे एक मित्र एक ऐसे मकानमें ठहरे थे, जिसके बहुत बड़े अहातेमें कई शेर बंद थे। उस मार्गसे गुजरनेवाले एक योगीने अहातेमें प्रवेश करनेकी अनुमति माँगी। उसके कथनानुसार ये शेर एकाकीपनका अनुभव कर रहे थे तथा वे कोई साथी चाहते थे। मेरे मित्रने उस योगीको अहातेके कठघरेपर चढ़ते देखा। शेर उसके चारों ओर एकत्रित हो गये और उसे अपनी ठुड्डियोंके निचले भागको खुजलाने दिया और स्पष्टतया आनन्दमें भरकर धरतीपर लेटने लगे। वे उसके साथ बिल्लीके बच्चोंके समान खेल रहे थे।

कुछ वर्ष पूर्व भारतवर्षमें एक शोभा-यात्रा निकली थी, जिसमें एक योगीके साथ एक सिंह, एक कुत्ता तथा बकरीका एक बच्चा साथ-साथ चल रहे थे। उनके वहाँसे निकलनेपर किसीने उनके सामने मांसका एक लोथड़ा फेंका, पर उन्होंने इसकी ओर ताका तक नहीं।

पशुओंके ये ढंग कितने विलक्षण हैं; परन्तु उनके घोर शत्रु इस मनुष्यने उन्हें इसका पुरस्कार क्या दिया है ? उन्हें मनुष्यके हाथों जितनी वृशंस यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं, वे वर्णनातीत हैं। वैज्ञानिक शोधके नामपर चीर-फाड़ करनेवाली प्रयोगशालाओं, कसाईखानों, मुलायम वालोंके (फर) व्यापारके निमित्त उन्हें फँसाने-हेतु प्रयुक्त क्रूरताओं, शिकारों (कारखानोंके अंदर बुरी तरहसे दम घुटनेवाले स्थानोंमें जन्मसे बंद रखे गये पशुओंकी स्थिति) ऐसी कितनी ही वेदनाएँ उन्हें सहन करनी पड़ती हैं और उनकी इन व्यथाओंका कोई अन्त दिखयी नहीं देता।

इस छोटे-से लेखमें हम इस दुष्ट सूचीमें मनुष्यके केवल दो ही अत्याचारोंका उल्लेख कर रहे हैं। प्रथम है—इन सहयात्री प्राणियोंका भक्षण तथा द्वितीय है—वैज्ञानिक प्रयोगके लिये की जानेवाली भीषण चीर-फाड़।

अवतक इस विषयमें प्रचुर प्रकाश डाला जा चुका है कि जहाँके लोग प्राकृतिक जीवन व्यतीत करते हैं और अन्य सब बातोंसे बढकर पशुओंका शव खानेसे बचते हैं, वहाँ कैसर तथा सभ्यताके अन्य घृणित अभिशापोंका बहुत ही कम असर है। यहाँपर हम कुछ गम्भीर चेतावनियाँ उद्धृत कर रहे हैं। जिनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि पशुहत्या बंद हो ही जानी चाहिये।

डॉक्टर पाल कार्टन (Paul Carton) कहते हैं—
‘संसारभरके रोगजनक कीटाणुओंसे कहीं अधिक मांस तथा मांससे बने हुए अन्य पदार्थ मानव-जीवनोंको नष्ट करते हैं। दीर्घकालतक मांसभक्षी बने रहनेके लिये निःसंदेह अत्यन्त कठोर हृदयकी आवश्यकता है।’

प्रोफेसर हचर्ड (Professor Huchard) लिखते हैं—‘पशु स्वाद्य, जिसका दुरुपयोग बहुत बुरी तरहसे दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही चला जा रहा है—कोई स्वाद्य नहीं है, अपितु एक असीस विष है।’

डॉक्टर ग्रैन्ड (Dr. Grand) लिखते हैं—‘सभी प्रकारसे इसका साज-शृङ्गार करनेके पश्चात् भी मांसका मृत्यु-उत्पादक भयानक रूप सदा बना ही रहता है।’

डॉक्टर ओ० जेड० हेमिश (O. Z. Hamish) का कहना है—‘यह निश्चित ही कितने आश्चर्यकी बात है कि अपने पेटमें किसी पशुके शवका टुकड़ा रखकर भी

आप मनुष्यका शव-भक्षण करनेवाले पालिनेशियन (Polynesian) की चर्चा करते हुए भयसे सिहर उठते हैं। यह कितनी विचित्र बात है कि आप अपने पेटको पशुओंकी कब्रगाह बनाकर भी विस्मय करते हैं कि आप बीमार क्यों पड़ते हैं और अपने साथ अरुचिकर दुर्गन्ध क्यों लिये फिरते हैं ? क्या आप प्राकृतिक कार्यप्रणालीसे इतने अनिभिन्न हैं ?’

एक महान् ईसाई संन्यासिनी वहन शिराफिम (Sister Seraphim) लिखती हैं कि ‘यह केवल कोरा सिद्धान्तमात्र नहीं है। यह तथ्य है और शकझोर डालनेवाला तथ्य है कि मांसभक्षी भी उसी प्रकारकी सड़ाँधसे भरा रहता है—कि जैसी कोई कब्र।’

फ्रांसीसी रहस्यवादी विचारक कर्नीज (Kerner) के शब्दोंमें ‘वैज्ञानिक प्रयोगके लिये की जानेवाली चीर-फाड़ एक अकथनीय घृणित कृत्य है।’

संत-हृदय धर्मप्रचारक डाक्टर जहान्नेस उदे (Dr. Johannes Ude) ने लिखा था—‘मेरा निश्चित मत है कि चीर-फाड़ करनेवाली प्रयोगशालाओंके अंदर जो कुछ भी घटित हो रहा है, उसे यदि जनता देख पाती तो इन चीर-फाड़ करनेवालोंको न्यायालयकी प्रतीक्षा न करके स्वयं ही समुचित दण्ड दे देती।’

डाक्टर इलियटसन (Dr. Elliotson) का कथन है—
‘हमें यह विश्वास ही नहीं होता कि इस प्रकारके अत्याचारोंका कोई उदाहरण अन्य किसी भी युगके प्राचीन अभिलेखोंमें उपलब्ध हो सकता है।’

श्री डीन इंगे (Dean Inge) ने इसे पाजी धूर्त्तकी संज्ञा देते हुए कहा है—‘इस भूलोकर पर रहनेवाले समस्त जीवधारियोंमें हमारा यह मानव प्राणी सर्वाधिक क्रूर तथा ध्वंसकारी है। यदि निम्नश्रेणीके कहे जानेवाले ये पशु किसी धर्मकी स्थापना कर पाते तो वे सब इस बातपर लगभग एकमत होते कि शैतानकी आकृति किसी बृहत्काय मानव-प्राणीसे मिलती-जुलती है।’

जिस प्रकार दिनके बाद रात्रिका आगमन सुनिश्चित है, उसी प्रकार यह नितान्त असंदिग्ध है कि वैज्ञानिक प्रयोगके नामपर चीर-फाड़को बढ़ावा देनेकी छूट देकर जो कारगरतापूर्ण मूर्खता मनुष्य कर रहा है, वह उसीका मूल्य आज

चुका रहा है। यह कृत्य नितान्त दुःखद, क्रूर, अनावश्यक तथा भ्रान्तिपूर्ण है। पशुओं पर किये जानेवाले इन प्रयोगों का मानव-प्राणियों के प्रयोग के रूप में परिणत हो जाना अपरिहार्य है। नीचे लिखे दो उदाहरण इसके साक्षी हैं।

अक्टूबर, १९६२ में हालैं स्ट्रीट के एक चिकित्सक डॉक्टर मारिश पैपवर्थ (Maurice Pappworth) ने ब्रिटेन के अस्पतालों पर यह आरोप लगाया था कि वहाँ संदेह न करनेवाले सरल विश्वासी रोगियों पर बड़े खतरनाक प्रयोग किये जाते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने निम्नलिखित उदाहरण दिया कि—‘एक अस्पताल में वातज्वर से पीड़ित १७ भयभीत बच्चों के (इनमें से १० बच्चों को हृदयरोग की कुछ शिकायत भी थी) हृदय में रबड़ की नली डालकर साइकिल का पैडल घुमाने के लिये कहा गया था ।’

सन् १९६४ में न्यूयार्क के ‘स्लोन केटरिंग कैंसर केन्द्र’ (Sloan Kettering Cancer Centre) में ३०० रोगियों तथा यहूदियों के दुस्साध्य रोगों के अस्पताल (Jewish Chronic Disease Hospital) में २२ रोगियों को कैंसर के सजीव कोशानुओं के टीके लगाये गये। इनमें से छः की मृत्यु हो गयी।

मनुष्य अपने अज्ञान में विशाल औषध-द्रव्यों के मिश्रणों का

हस्तक बने हुए रूढ़िवादी ओपधि-विकेताओं की वेदी पर अपनी पूजा चढ़ा रहा है।

फिर इसमें क्या आश्चर्य है कि रोग से मुक्त करनेवाले कई प्रामाणिक व्यक्तियों पर लगातार अत्याचार किये जाते हैं, उनसे दुर्व्यवहार होता है, उन्हें जेल भेजा जाता है, अर्थदण्ड दिया जाता है और कई बार उन्हें अपना देश तक छोड़ देने के लिये बाध्य कर दिया जाता है। इस बात में भी कोई आश्चर्य नहीं कि कैंसर के उपचारों को दबाया जाता है। पचीस वर्ष से भी पूर्व सायरिल स्कॉट (Cyril Scott) ने अपनी पुस्तक में कैंसर के १८ विविध उपचारों की चर्चा की है।

निरीह पशुओं का इतनी बुरी तरह से दुरुपयोग करने के कारण ही मनुष्य को इस प्रकार के क्रूर दण्ड भोगने पड़ते हैं।

पशु असहाय हैं और मनुष्य की भलमनसाहत तथा दयापर आस्था रखते हुए वे उसी पर अवलम्बित हैं।

ईसाई कैथलिक धर्माचार्य कार्डिनल न्यूमैन (Cardinal Newman) लिखते हैं कि ‘जिन्होंने हमें कभी हानि नहीं पहुँचायी और जो स्वयं भी रक्षा कर सकने में अक्षम हैं तथा पूर्णतः हमारे वश में हैं, उन्हें सताना भयावह तथा शैतानीपूर्ण कृत्य है।’

प्राणी-हत्याका अनिष्ट परिणाम

मानव आज बन गया दानव दयाभाव छोड़ करके खारा।
घड़कडोर-हृदय अति निर्दय निर्मल जीवों का हत्याखाना ॥
पशु-पक्षी मछली-खंडों को उसने अपना खाद्य बनाया।
खुले कसाईखाने अगणित घर-घर हत्याका अघ छाया ॥
वैज्ञानिक प्रयोगशालाएँ, वनीं क्रूर सब हत्याशाला।
मानव ने राक्षसीवृत्ति से मानवता का वध कर डाला ॥
साज-सजावट-हेतु नित्य पशु-पक्षी लाखों मारे जाते।
कर हत्या निरीह जीवों की शव खाते, तन-वदन सजाते ॥
इसका अति अनिष्ट फल होगा, शाप लगेगा इनका भारी।
चिन्ता-शोक बढ़ेंगे, करनी होगी नरकों की तैयारी ॥

गोपी-प्रेम—आदर्श भक्ति-दर्शन

[रचयिता—श्री० श्रीब्रजगोपालदासजी अग्रवाल एम० ए०]

लाख बारका तपा स्वर्ण हो
पेसा कृष्ण-प्रेम ब्रज-जनका
वहाँ कामकी नहीं गन्ध भी
नहीं नाम उसमें स्वारथका ।

तन-मन-धन सब प्रभुको अर्पित
उनका सुख ही सर्वोपरि है—
ब्रज-जनकी तो यही धारणा
यही गोपियोंका दर्शन है ।

प्रभुके सुखके लिये गोपियाँ
तत्पर हैं कुछ भी करनेको
पाप-पुण्य वे नहीं जानतीं
समझें क्या जीने-मरनेको !

स्वर्ग-मोक्षकी नहीं कामना
धर्माधर्म नहीं कुछ मानें
कृष्ण-प्रेममें वे दीवान्नी
कृष्ण छोड़कर वे क्या जानें ?

जैसे भी हो, कृष्ण सुखी हों
नहीं बाल बाँका हो उनका—
करें गोपियाँ यही कामना
यही ध्यान-जप-तप है उनका ।

नारदको विश्वास नहीं था
प्रभुने चाहा पाठ पढ़ाना
एक रोज वह लगे कलपने
भारी ज्वरका किया बहाना ।

कर उपाय थक गये देव-ऋषि
मगर नहीं ज्वर दूर कर सके,
नहीं समझमें आई औषध
जो प्रभुको नीरोग कर सके ।

बोले तब प्रभु—‘मुझे चाहिये
चरणामृत बस किसी भक्तका
पीते ही ज्वर टूट जायगा
और उपाय नहीं कुछ इसका ।’

नारद फूले नहीं समाये
चरणामृत ! लो चाहे जितना,
स्वयं रानियाँ इतनी प्रभुकी
भक्तोंकी संख्या क्या गिनना
मगर जहाँ भी गये देव-ऋषि
वात वहीं दस सुनकर आये,
अपने पगकी धोवन प्रभुको
देते हुए सभी घबराये ।

कहा सभीने—‘अरे, पिलाकर
प्रभुको धोवन अपने पगकी
क्या हमको परलोक मिटाना
राह पकड़नी हमें नरककी ?’

नारद लगे सोचने मनमें—
‘चरणामृत कैसे मिल पाये ?
और किसीसे क्या आशा
जब प्रभुके निज जन काम न आये ।’

‘अनपढ़ निपट गँवार गोपियाँ
वे क्या समझें प्रेम-तत्त्वको ?
आशा नहीं, मगर फिर भी अब
एक बार परचाऊँ ब्रजको ।’

ज्वरकी बात सुनी जैसे ही
सभी गोपियाँ बोलीं झटसे—
‘अरे अभी पग धोकर देतीं,
कृष्ण स्वस्थ होते यदि इससे ।’

‘जाओ नारद ! उन्हें पिला दो
अच्छा करो उन्हें जल्दीसे
कात्यायनी ! तुम्हीं हो रक्षक
दूर करो ज्वर उनके तनसे ।’

हँसकर तब बोले गोपेश्वर—
‘गोपी-प्रेम कहो कैसा है ?
यही प्रेम परकीया नारद !
और यही सबसे अच्छा है ।’

कामके पत्र

(१)

लाटरी: एक प्रमाद

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपा-पत्र मिला। लाटरीके सम्बन्धमें लिखा तो यह तो ठीक है कि लाभ-हानि प्रारम्भके अनुसार ही होती है। आप बराबर टिकटें लेते रहे हैं, पर आपको अभी तक कुछ भी नहीं मिला—यह भाग्यकी ही बात है। पर यह काम वस्तुतः अच्छा नहीं है। इसमें बिना भ्रम हारामके पैसे पानेकी नीयत है। मेरी राय पूछी तो मैं तो इसे प्रमाद ही मानता हूँ। आजकल हम सभी धनलोभुप हो रहे हैं, किसी प्रकार भी हो, धन आना चाहिये। सरकार भी हमारी ही है। सरकारोंकी धनलोभुपता ही लाटरीका यह प्रमाद है। किसी भी धार्मिक या शिक्षासम्बन्धी पवित्र कार्यके लिये इतनी आसानीसे इतने रुपये नहीं मिल सकते। पर इसमें तो गरीब-से-गरीब आदमी अपना पेट काटकर इस लोभसे पैसे देता है कि कभी पहला इनाम मुझे ही मिल जायगा। अधिक पैसा इसमें गरीबोंका ही आता है। यह सरकारोंका एक तरहका पाप है, जो गरीबोंको प्रलोभनमें डालकर इस अनैतिक जुएके कार्यमें उनसे पैसे बटोरकर अपने धनकी पिपासाको बढ़ाती रहती हैं। सुना गया है, देशके मान्य तथा वयोवृद्ध विद्वान् भीराजगोपालाचारिने राष्ट्रपतिको लिखा था कि 'इस प्रकार गरीबोंको प्रलोभनमें डालकर जुएमें लगाना क्या सरकारोंके लिये लज्जाजनक नहीं है?' कहा जाता है कि यह गैरकानूनी नहीं है। पर कानूनी होनेसे ही कोई कार्य नैतिक या चरित्रनिर्माण करनेवाला नहीं बन जाता है। कसाईखाने कानूनी हैं, पर क्या उनमें हिंसाका महापाप नहीं हो रहा है? इसी प्रकार लाटरीका कार्य कानूनी हो सकता है, पर वह नैतिक कदापि नहीं है, अतः लाटरीका कार्य करने-करानेवाले लोग अनैतिकताको ही प्रोत्साहन देते हैं।

कहा जाता है कि विभिन्न सरकारोंने अवतक सब मिलाकर ४७ करोड़ रुपये इकट्ठे किये हैं, जिनमेंसे लगभग २० करोड़ इनाम बाँटनेमें, कमीशनमें तथा खर्चमें लगे हैं। सबसे अधिक तामिलनाडुने रुपये इकट्ठे किये हैं। बात-की-बातमें लक्ष्मपती बननेकी इच्छासे लोग हारामके पैसेपर मन चलाते

हैं और सरकारें उनको प्रोत्साहन देकर रुपये लेती हैं। सुना गया है कि सफलताके कारण लाटरीकी तथा इनामकी रकमें और बढ़ायी जा रही हैं, जिससे अधिक प्रलोभन हो और अधिक रुपये आवें। अधिकांशमें गरीबोंसे आवे हुए इन ४७ करोड़ रुपयोंका यह जूआ क्या उनकी गरीबी तथा दुर्दशाको बढ़ानेवाला नहीं है? पर कौन सुने?

‘पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरासुन्मत्तभूतं जगत्।’

आप मेरी बात मानें तो इन हारामके तथा गरीबोंके रक्त-जैसे पैसोंपर मन चलाकर लाटरीके टिकट मत खरीदिये। शेष भगवत्कृपा।

(२)

आध्यात्मिक जगत्में पतन

सम्मान्य महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपने ‘...तथा...’ नामक संस्थाओं तथा उनके संचालकों या गुरुओंकी स्थितिके सम्बन्धमें पूछा, तो इस सम्बन्धमें कुछ कहा नहीं जा सकता। साधनाके क्षेत्रमें कौन किस स्तरपर है, कौन तत्त्व-साक्षात्कारको प्राप्त पुरुष है—यह दूसरा कोई नहीं जानता। इसलिये कुछ भी कहना अनधिकार चर्चा है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि प्रत्येक आध्यात्मिक साधनाके मार्गमें दैवीसम्पदाके गुण साधना-प्रासादकी नींवके रूपमें आवश्यक हैं। इसीसे योगमें ‘यम, नियम’ भक्तिरसमें ‘शान्तरस’, ज्ञानमें साधन-चतुष्टय—उनमें भी ‘षट्सम्पत्ति’ कर्ममें मनुकथित ‘दस धर्म’—आदि अत्यावश्यक हैं। नहीं तो, बिना नींवके मकानकी भाँति साधन टिक ही नहीं सकता। जिस संस्थामें या जिस महात्मामें ये सब हों, और जिनसे ये सब मिलते हों, अपने लिये वे ही निरापद हैं—चमत्कार, सिद्धि, पलभरमें ध्यान-समाधि आदि निरापद नहीं; क्योंकि उनमें दम्भ भी हो सकता है। आपका लिखना सत्य है—आजकल ऐसी संस्थाओं, गुरुओं और अवतारोंकी भरमार है, जो शास्त्रोंको बखेड़ा तथा अनावश्यक बताते हैं, अपना अलग मनमाना पन्थ चलाते हैं। वे कहते हैं—

‘संयम-नियम, आचार-विचार, सध्या-पूजा, शुद्ध आहार-विहार, त्याग-वैराग्य, स्वाध्याय-जप आदिकी कोई आवश्यकता नहीं। देवता, ऋषि, मुनि आदि कुछ नहीं; राम-कृष्णको मानना बेकार है। कुछ भी करें, कुछ भी खायें-पीयें, कैसा भी आचरण करें—कोई रोक-टोक नहीं। बस, हमारी बात मानो, हम कहें सो करो। एक हम तथा हमारा सिद्धान्त ही सत्य है और सब भ्रमिया है। हमी अवतार हैं, हमारे ही अनुभव सत्य हैं। हम नवीन मानव, नवीन समाज, नवीन आचार-पद्धतिकी स्थापना करके जगत्का उद्धार करने आये हैं। हम सर्वसमर्थ हैं। हम योगसिद्ध हैं, हम शक्तिमान् हैं, योगबल तथा शक्तिसे ही सयका कल्याण कर सकते हैं’ इत्यादि।

इस प्रकार स्वच्छन्द उपदेश-आदेश देनेवाले तथा वैसे ही आचरण करने-करानेवाले तथा सब प्रकारके आराम-भोगोंका स्वच्छन्द उपभोग करनेवाले यथेच्छाचारी लोगोंकी मानो बाढ़-सी आ गयी है।

इस प्रकारके वातावरणमें सावधान रहनेकी बड़ी आवश्यकता है। बस, दैवीसम्पदा (गीता १६।१—३) की कसौटीपर परखकर चलिये। नहीं तो, धोखा ही होगा। आप धोखा खा चुके हैं। इसलिये औरोंको भी सावधान करते रहिये तथा खण्डन-मण्डनमें न पड़कर चुपचाप सदाचारका सेवन, भगवान्का भजन, शास्त्रोंका—उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, भागवत, रामायण, मनुस्मृति आदिका स्वाध्याय तथा भगवन्नामका जप करते रहिये। गोस्वामी तुलसीदासजी आजके युगके सम्बन्धमें कहते हैं—

मारग सोइ जा कहूँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहूँ संत कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥
नराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरामी॥

शेष भगवत्कृपा

(३)

अध्यात्मशून्य भौतिक विज्ञानका परिणाम मानवताका नाश

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला था। भौतिक विज्ञानके क्षेत्रमें मनुष्यने अवश्य ही

विलक्षण प्रगति की है और वह निःसंदेह आदरणीय है। पर इस भौतिक विज्ञानसे आध्यात्मिक ज्ञान-विज्ञानपर विषम कुठाराघात हो रहा है। इसीके एक प्रत्यक्ष उदाहरण स्वयं आप हैं, जो शास्त्र, धर्म, अध्यात्म, मुक्ति आदिपर अनास्था-सी प्रकट करते हुए मानवताके गुणोंको भी अनावश्यक-सा बताने लगे हैं। आपमें इतना परिवर्तन भौतिक विज्ञानके पतन की ओर ले जानेवाली प्रवृत्तिका ज्वलन्त प्रमाण है। इस भौतिक विज्ञानके साथ जो कामोपभोगपरायण आसुर-मस्तिष्क काम कर रहा है, वह जगत्में भयानक राग-द्वेष, द्रोह-वैर, हिंसा-हत्या, अभिमान-मद, अत्यन्त सीमित ममता, ‘स्व’ की अत्यन्त संकुचित सीमा, संग्राम-संहार आदि अमानवी—आसुरी-राक्षसी वातावरणका विस्तार करके मानवताका संहार कर रहा है। यह विज्ञान मानव-सेवाका नहीं, मानव-संहारका (मानव-शरीरके ही—मानव-धर्मके संहारका) साधन बन रहा है। यदि इसी प्रकार इस भौतिक आसुरी विज्ञानकी प्रगति होती रही तो मानव-जगत् मानवतारहित—पशुओं, राक्षसों, पिशाचोंसे भी नीची श्रेणीके मानव-जन्तुओंसे भरा मूर्तिमान् नरक बन जायगा। इसलिये इस विज्ञानके साथ अध्यात्मका संयोग अवश्य रहना चाहिये, वरं अध्यात्मके नियन्त्रणमें, अध्यात्मकी सेवाके लिये ही इस विज्ञानके अस्तित्वका संरक्षण, इसका पोषण और संवर्धन होना चाहिये। आप विद्वान् हैं, बुद्धिमान् हैं, विज्ञानके भी पण्डित हैं एवं अध्यात्मकी ओर भी आपकी बड़ी रुचि तथा प्रगति थी—अब भी उसके संस्कार तो बहुत हैं ही—स्वयं गहराईसे विचार कीजिये और अपने सिद्धान्त तथा कर्तव्यका निश्चय कीजिये।—शेष भगवत्कृपा।

(४)

भगवान्के मङ्गल-विधानमें संतुष्ट रहिये

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण।

आपका पत्र मिले बहुत दिन हो गये। मेरा शरीर अस्वस्थ था, इससे उत्तर नहीं दिया जा सका। कृपया क्षमा करें।

आपके १४ सालके पुत्रकी मृत्यु हो गयी। इससे आपको अत्यन्त दुःख तथा मानस पीड़ा होना तो स्वाभाविक ही है। पर हमलोग देखते हैं, दुनियाँमें ऐसी घटनाएँ प्रतिदिन होती रहती हैं। जीव कर्मवश जन्म लेता है और कर्मवश मिली हुई अवधि पूरी करके चला जाता है। वास्तवमें यहाँके सभी सम्बन्ध कल्पित हैं। आप बुद्धिमान हैं, आपको धैर्य रखना चाहिये। भगवान्की सत्तापर संदेह करना तो सर्वथा गलती है। भगवान्की सत्ता न हो तो कर्मोंका, कर्म-फलका नियन्त्रण कौन करे? हमारे मनकी हो तब तो भगवान् हैं, न हो तो भगवान् नहीं—ऐसा मानना अज्ञान है। भगवान् सर्वज्ञ हैं, सर्वलोकमहेश्वर हैं, वे बहुत दूरतक आत्माका यथार्थ कल्याण समझकर विधान करते हैं। हमारी दृष्टि सीमित है—इसलिये हम उतनी दूरकी सोच ही नहीं सकते। छोटे बालकका आपरेशन हो, वह दूर-दृष्टि न होनेसे अङ्ग कटना समझकर दुखी होता है। दूर-दृष्टिवाले हमलोग आपरेशनके कष्टकी परवा न करके आगे होनेवाली नीरोगताको देखते हैं। देह छूटनेसे ही आत्माका अमङ्गल नहीं होता। आत्मा तो देहपातके बाद भी रहता है। यदि इस देहके पातमें उसका मङ्गल है तो भगवान् वही करते हैं। अतएव आपको दुखी नहीं होना चाहिये और भगवान्के मङ्गल-विधानमें विश्वास करके संतुष्ट रहना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(५)

सबमें एक ही भगवान् हैं

प्रिय भाई! सप्रेम हरिस्मरण। तुम्हारा पत्र मिला था, उत्तर देरसे जा रहा है, माफ करना। यह सत्य है कि हिंदू सनातन-धर्ममें अनन्त देवताओंकी पूजा है, उनके भिन्न-भिन्न नाम, रूप तथा पूजा-पद्धति हैं। पर ध्यानसे देखोगे तो पता लगेगा कि हिंदूधर्म 'बहुदेववादी' नहीं है। एक ही परम सत्य—परम तत्त्व-

के, जो ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् आदि अनेक नामोंसे पुकारा जाता है—

‘ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयुते।’

(आगत)

ये असंख्य विविध लीलारूप हैं। हिंदूधर्मके विभिन्न ईश्वर या देवताओंके स्वरूप ही नहीं—ईसाई, मुसल्मान, पारसी आदि जगत्के सभी आस्तिक धर्मों, सम्प्रदायोंका आराध्य-उपास्य तत्त्व उस एक ही सत्य परम तत्त्वकी अभिव्यक्ति हैं। इस प्रकार हिंदूधर्मके परम तत्त्वको समझनेवाले पुरुषका किसीके साथ भी विरोध नहीं है। विभिन्न मतों, पंथों, भगवान्के विभिन्न नाम-रूपों, विभिन्न पूजन-पद्धतियों, विभिन्न आचार-विचारों तथा-साधन-प्रणालियों—सभीको वह अपने इष्टदेवकी अभिव्यक्ति तथा उन्हींकी पूजा मानता है। वह किसीका विरोध नहीं करता और अपने इष्टदेव तथा साधन-प्रणालीको छोड़ता नहीं। सबमें अपने ही भगवान्को समझकर वह सदा सबके हित-सुखकी बात सोचता है, सदा सबका सुख-हित-सम्पादन करता है।

गोस्वामीजीने कहा है—

उमा जे राम चरनरत विगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहि जगत का सन करहि विरोध ॥
जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि ।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि ॥
सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥
सीय राममय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

श्रीमद्भागवत (११ । २ । ४१) में कहा है—

सं वायुमग्नि सलिलं महीं च

ज्योतीषि सत्त्वानि दिशो हुमाद्रीन् ।

सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं

यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥

इसीलिये हमारा नारा है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

शेष भगवत्कृपा ।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

चोरीके अन्धसे महात्माकी भी बुद्धि मारी गयी

किसी भी प्रकारसे हो, पैसा आना चाहिये—फिर चाहे वह चोरीसे हो, ठगीसे हो, किसीकी हिंसा करके हो या सभ्यताभरी डकैतीसे हो । धन आनेपर समाजमें सब ओरसे उसे सम्मान मिलता है । आज प्रतिष्ठा—पूछ उसीकी है, जिसके पास धन है; उसीकी समाजमें पूजा होती है । इसके फलस्वरूप 'चोर-पूजा' बढ़ रही है ।

समाजमें प्रतिष्ठा तथा सम्मानको प्राप्त एक बड़े व्यापारी बाबूके और-और धन कमानेके व्यापारोंके साथ यह भी व्यापार था कि रेलवे स्टेशनके अधिकारियोंसे तथा जहाज-घाटके कर्मचारियोंसे उन्होंने अपना हिसाब-किताब बैठा रखा था और स्टेशनपर या जहाज-घाटोंपर पड़ा हुआ बूसरोंका माल वे रातको ट्रक भरवाकर मँगवा लिया करते थे और यों लाखों रुपये कमाते थे ! चूँकि समाजमें वे धर्मात्मा माने जाते थे, दान-पुण्य भी करते थे, साधु-सेवा भी; वे सत्संगमें भी जाया करते थे । साधु-महात्मा भी उनके यहाँ आते थे । एक दिन स्टेशनसे उपर्युक्त प्रकारसे ट्रकमें माल आया था; उसमें दस बोरे चावल भी थे । चावल बहुत बढ़िया थे, अतः उनमेंसे पाँच बोरे बाबूके घरपर सँगा लिये गये थे । उसी दिन एक विरक्त साधु उनके घरपर आये, जो प्रायः आया करते थे । बाबूजी साधुसेवी थे । उठकर सामने गये । प्रणाम करके उनको आदरपूर्वक भीतर लिये । इसके बाद महात्माजीको भिक्षा करायी गयी । उस दिन उन्हीं चावलोंकी खीर बनाकर देवीजीका प्रसाद किया गया था । महात्माजीने भी भिक्षामें वही खीर खायी । उसके बाद महात्माजीको विश्रामके लिये बाबूजी उस एकान्त रोकड़के कमरेमें ले आये, जहाँ वे पहले नोट गिन रहे थे । नोटोंकी गड्डियाँ इधर-उधर त्रिलरी पड़ी थीं । विरक्त महात्माजीके लिये तो यह शङ्का थी ही नहीं कि वे नोट ले लेंगे, वरं वे रखवालीके रूपमें वहाँ बैठे रहेंगे—यह सोचकर जल्दीके कारण महात्माजीको वहाँ बैठाकर बाबूजी भोजन करने चले गये । पीछेसे महात्माजीका मन बिगड़ा । उन्होंने दस हजारके नोटोंकी एक गड्डी उठाकर चुपकेसे अपनी

झोलीमें डाल ली । कुछ देरमें बाबूजी भोजन करके आये । आज देर हो गयी थी; जल्दी आफिस जाना था; इसलिये बिना ही गिने नोटोंकी गड्डियोंको उठाकर तिजोरीमें रखकर ताल बंद कर दिया और महात्माजीको विश्राम करनेके लिये कहकर वे आफिस चले गये ।

महात्माजीको कहाँ विश्राम करना था । झोलीमें पड़ी नोटोंकी गड्डीने उन विरक्तके मनको रागयुक्त बनाकर अशान्त कर रखा था । महात्माजीने घरवालोंसे कहकर कमरा बंद करवा दिया और वे अपनी कुटियापर चले गये ।

रात्रिको बाबूजीने आकर नोट गिने तो दस हजार कम । बाबूजी बड़े दुखी हुए । महात्माजीपर तो संदेहकी कोई कल्पना ही नहीं थी । उन्होंने समझा—महात्माजी ध्यानमें बैठे होंगे, उन्हें बाह्यज्ञान न रहा होगा; और किसी नौकरने नोट चुरा लिये होंगे । बेचारे नौकरोंकी शامت आयी । उन्हें तंग किया जाने लगा । पर उन्होंने नोट लिये हों तो वे बतावें । सबेरे पुलिस बुलानेकी बात तै हुई ।

महात्माजी पेट-साफके लिये रोज त्रिफला लिया करते थे, आज भी लिया । सबेरे शौचमें कलकी खीरका बहुत-सा अंश मल बनकर निकल गया; तब महात्माजीकी बुद्धिमें निर्मलता आयी । वे नोट चुरानेके अपने कृत्यपर पश्चात्ताप करने लगे । सोचा—वहाँ मुझपर तो कोई संदेह कर नहीं सकता । बेचारे नौकर-चाकर सताये जाते होंगे । फिर यह भी उनकी समझमें नहीं आ रहा था कि मेरे सर्वथा विषय-विरक्त मनमें ऐसी जघन्य तथा नीच वृत्ति कैसे पैदा हुई और क्यों मैंने चोरी की ?

उन्होंने झोली उठायी और तुरंत बाबूजीके घर पहुँचे । वहाँ नौकरोंको डाँटा जा रहा था और पुलिसमें रिपोर्ट करनेके लिये आदमी जानेकी तैयारीमें था । महात्माजीने पहुँचते ही बाबूजीको अलगा ले जाकर नोटोंकी गड्डी दी और कहा कि ये नौकर बेचारे निर्दोष हैं; नोटोंकी गड्डी तो मैं ले गया था । बाबूजी नोट पाकर तो बड़े प्रसन्न हुए, पर उन्होंने 'महात्माजी नोट ले गये' इसपर विश्वास न करके कहा—'महाराजजी ! आप दयालु हैं, किसी नौकरने अपने बचावके लिये नोट

जाकर आपको दिये होंगे और आप उसे बचानेके लिये अपनेको चोर बता रहे हैं। आप-सरीखे विरक्तका नोटोंपर मन चल ही नहीं सकता। और यदि आप ठे ही गये होते तो लौटानेको क्यों आते ?

महात्माजीने कहा—‘भाई ! नोट मैं ही ले गया था, पर मेरी बुद्धि विगड़ी क्यों, यह समझमें नहीं आता। कल तुम्हारे यहाँ भिक्षा की थी, उसमें कोई चोरीकी चीज तो नहीं थी न ?’ अब बाबूको स्मरण आया कि चावल तो चोरीके ही थे। बाबूने कुछ उत्तर नहीं दिया। साधुजी समझ गये कि दालमें कुछ काला अवश्य है। उन्होंने कहा—‘भाई ! तुम्हारे यहाँ भिक्षा करनेके बाद ही मेरी बुद्धि विगड़ी, इससे अवश्य ही उसमें कोई चोरीकी चीज रही होगी। उस चोरीके अन्नकी भिक्षाका अधिकांश मलरूपमें निकल गया, तब मेरी बुद्धिमें प्रकाश आया। मैंने अपनी करनीपर पश्चात्ताप किया और नोट लेकर मैं यहाँ दौड़ा आया।’ महात्माजी इतना कहकर तुरंत चल दिये। बाबूजीको उन्हें रोकनेका साहस नहीं हुआ। नौकरोको डाँटने-डपटनेका काम बंद हो गया। बाबूके मनमें भी कुछ देरके लिये तो यह विचार आया कि जरा-से चोरीके पदार्थसे विरक्त महात्माकी बुद्धि इस प्रकार विगड़ जाती है, तब मेरी बुद्धि तो सदाके लिये ही विगड़ गयी होगी। उन्हें क्षणिक पश्चात्ताप भी हुआ; परंतु तमसाच्छादित विगड़ी बुद्धिने तुरंत ही उनके इन विचारोंको भुला दिया।

आज जो व्यापारी-कर्मचारी, अधिकारी-नेता, पण्डित-साधु प्रायः सभीकी बुद्धि विगड़ी है और उत्तरोत्तर अन्याय तथा अधर्मसे पैसा पैदा करनेकी सबकी प्रवृत्ति हो रही है, इसका प्रधान कारण दूषित आहार-विहार है, अन्यायोपाजित पैसेका अन्न खाना है—जैसा अन्न, वसा मन।

—हरिवंश अग्रवाल

(२)

बापूका खेल

बापूके प्रत्येक कार्यमें एकाग्रता इतनी अधिक रहती कि वे जिस समय जो काम करते, उसमें तद्रूप हो जाते। मुझे बचपनका एक छोटा-सा—परंतु जीवनमें अबतक जिसकी याद बनी हुई है और जो अत्यन्त उपयोगी हो सकता है—आश्रममें बना हुआ एक प्रसन्न स्मरण हो रहा

है। इस प्रसन्नसे बापूकी अजीब शक्तिका पता लगता है। इस शक्तिके द्वारा वे हरेक काममें बिना ही पूर्वकी तैयारीके ओतप्रोत हो जाते। जिस समय जो काम करना निश्चित हुआ हो, वह भी होना ही चाहिये—इसका आग्रह और उसमें लीन हो जाना—यह बापूके जीवनका स्वभाव बन गया था।

आश्रममें शामकी प्रार्थना सात बजे होती। प्रार्थनासे पहले रोज बापू घूमने जाते। घूमना समाप्त होनेपर प्रार्थना होती। लौटते समय हम बापूके ‘प्यारे पंखी बच्चे’ अचूक साथ रहते ही। उनकी सोड़में घुसकर हम पाँखें फड़फड़ाते और बापू हमें, जीवनमें किस तरह उड़ना है—यह सिखाते। एक दिन प्रार्थनाके स्थानपर हम सब बापूके साथ प्रार्थनाके समयसे लगातार सात मिनट पहले पहुँच गये। प्रार्थनाका स्थल था, पर प्रार्थनामें अभी देर थी; इससे हमलोग बापूके साथ खेलने लगे।

खेल क्या था, पता है ? प्रार्थनाके स्थानके पास ही एक बबूलका पेड़ है। उसके बीज चुन-चुनकर इकट्ठे करने लगे और बारी-बारीसे हम पूछने लगे—‘बापूजी ! एकी या दोकी ?’

बापूजीने कहा—‘ऐसा नहीं। मेरी बात सच निकले तो तुमलोगोंको सारे बीज मुझे देने पड़ेंगे, और मेरी बात झूठ निकली तो चुन-चुनकर मैं तुम्हें दूँगा। बोलो, है स्वीकार ?’

हम आनन्दमें आ गये और बोल उठे—‘स्वीकार, स्वीकार।’

‘बोलो, बापूजी एकी या दोकी ?’

बापूजीने मुट्ठी दबाते हुए जरा आँखें मीचकर कहा—‘दोकी, चल, खोल मुट्ठी।’ इन्दुने मुट्ठी खोली, बीज गिने। बाईस निकले, इन्दु हार गया।

बापूजी—‘क्यों हार गया न ? दे दे बीज। क्यों ? अब किसीको खेलना है मेरे साथ ?’ तब शान्ति बोल उठी—‘अब मुझे बताओ, एकी या दोकी ?’

बापूने कहा—‘ऐसा नहीं, अब पूछनेकी मेरी बारी है। बोलो—कौन कहेगा ? देखना; बतानेवाला हारेगा तो उसे मेरी मुट्ठीमें जितने बीज हैं, उतने मुझे देने पड़ेंगे। बोलो, एकी या दोकी ?’

बलभद्र तुरंत बोल उठा—‘एकी’ ।

गिनकर बापूने हँसते हुए कहा—‘झूठ, झूठ, ला अट्ठाईस बीज ।’ बलभद्र बीज चुनने लगा ।

शान्ति बोली—‘अब तो मेरी बारी ठीक है न ? बापूजी, आप भले ही अबतक जीते ही जीते हों, पर इस बार मैं आपको हराऊँगी । बोलो, एकी या दोकी ?’

बापूने चारों ओरसे मुट्ठीको दबाते हुए कहा—‘एकी’ ।

शान्तिने बीज गिनकर ही रखे थे । इससे अँगुलीका अँगूठा दिखाते हुए वह बोली—‘लो, हार गये न ? झूठ, झूठ, लाओ बत्तीस बीज । अरे शारदा, निमु, इन्दु, मनु, रामभाऊ, बलभद्र । बापूजी हार गये, हार गये । अब तुम्हें बीज चुननेकी जरूरत नहीं है । बापूसे ही अपने बीज लेने रहे हैं ।’

सब लड़कोंने ‘बापू हार गये ! बापू हार गये !’ जोर-जोरसे चिल्लाकर सारे वातावरणको गुँजा दिया । उधर ‘प्रार्थनाके प्रारम्भ होनेमें दो मिनट बाकी हैं’—इसकी सूचना देनेके लिये घंटीपर डंकेकी आवाज हुई ।

घंटीकी आवाज आते ही सारी हँसी, खेलकी सारी मस्ती गुम हो गयी और सारे वातावरणपर शान्ति छा गयी ।

खेल चल रहा था, यह स्वप्न बन गया और दो मिनटके बाद ही सब ईश्वरकी भक्तिमें लीन हो गये । इस प्रसङ्गका मूल्य आज मेरी समझमें आता है । प्रत्येक कार्यमें चाहे वह एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न हो, समदृष्टि रखना, आनेवाले कामकी गम्भीरताको भूल जाना और खेलके कामसे तुरंत गम्भीर काममें चले जाना—यह क्या भेरी-वैसी साधना है ? (अखण्ड आनन्द)

—धीरेन गौधी

(३)

शास्त्रीजीकी समवेदना

यह उस समयकी घटना है, जब स्व० लालबहादुरजी शास्त्री केन्द्रीय गृहमन्त्री थे । उनकी कोठीके दोनों ओर दो दरवाजे थे—एक जनपथ रोडकी ओर और दूसरा अकबर रोडकी ओर ।

एक दिन सिरपर लकड़ियोंका बोझ उठाये कुछ मजदूर छियाँ उधर आयीं और चक्करसे बचनेके लिये शास्त्रीजीकी कोठीमें घुस गयीं । चौकीदारने उनको डाँटा और वह उन्हें वापस लौटाने लगा । इसी बीच शास्त्रीजी वहाँ आ गये । सारी स्थितिको उन्होंने तुरंत समझ लिया और चौकीदारको शान्त करते हुए वे बोले—‘देखो, इनके सिरपर कितना बोझ है । इधरसे निकल जानेमें इन्हें कुछ आराम मिलता है तो तुम इन्हें क्यों रोकते हो ? निकल जाने दो ।’ मजदूरोंने वही प्रसन्न थीं ।

(४)

मंद करत सो करत भलाई

संत समर्थ रामदास स्वामी एक दिन दुपहरके समय भिक्षाके लिये विचरते हुए एक घरके सामने आकर ‘जय जय रघुवीर समर्थ’ बोलकर भिक्षाकी प्रतीक्षामें खड़े हो गये । उस समय घरकी मालकिन घरके अंदर हाथमें पोतना लिये चौका लीप रही थी । भिक्षाके लिये साधुकी आवाज सुनते ही उसे बड़ा गुस्सा आ गया और क्रोधके आवेशमें पोतना हाथमें लिये ही बाहर आ गयी और ‘ले भिक्षा’ कहकर पोतना समर्थपर दे मारा ।

पोतना समर्थके शरीरपर पड़ा और उसमेंसे जूँठनके कण उनके शरीरपर लग गये । इतनेपर भी जरा भी क्रोध न करके समर्थने उस स्त्रीको आश्चर्यवाद दिया और उस पोतनाको लेकर वे वहाँसे चल दिये ।

समर्थ नदीपर गये और शरीरपर पड़ी जूँठन तथा पोतनेको धोकर साफ किया, फिर सीधे मठपर आ गये । मठ पहुँचनेपर साफ किये हुए पोतनेको सुखाया और उसकी बत्ती बनाकर धीमें भिगोकर उसका भगवान्के सामने दीपक जलानेमें उपयोग किया । दीपक जलनेपर उन्होंने भगवान्से प्रार्थना की—‘प्रभो ! इस दीपकके प्रकाशसे जैसे यहाँका अन्धकार दूर हो गया है, वैसे ही इस वस्त्रको देनेवाली माताके हृदयका अन्धकार भी दूर हो जाय और उसके अन्तःकरणमें प्रकाशकी ज्योति जग उठे ।’

भगवान्ने समर्थकी प्रार्थना सुनी और प्रार्थनाके साथ ही उस स्त्रीके हृदयमें दिव्य प्रकाशका प्रादुर्भाव हुआ और उसके सारे दोष-अपराधका अन्धकार वहाँके

लिये नष्ट हो गया। उसे समर्थके प्रति किये हुए अपने अपराधके लिये पश्चात्ताप हुआ और वह उस अपराधकी क्षमा माँगनेके लिये समर्थकी सेवामें दौड़ी आयी। समर्थने उसको क्षमा प्रदान की और वह साधुहृदया भक्तिमती बन गयी।

(५)

बड़े-बड़े धनाधीशों तथा अधिकारियोंसे भी ऊँचा गरीब चपरासी

गुजरातमें बड़ौदाकी एक तहसील परखी जैतपुरके तहसीलदार साहेबका एक चपरासी डाक छोड़ने स्टेशन गया था। रास्तेमें उसको एक बटुआ पड़ा मिला। देखा, तो उसमें पचास हजारके नोट थे। बटुआके अंदर एक कागज था, उसमें मालिकका नाम लिखा था। चपरासीने बड़ा परिश्रम करके उनका पता लगाया और जाकर बटुआ उन्हें सँभल दिया। वर्तमान चोरी-ठगीके युगमें एक गरीब चपरासीकी ऐसी सच्चाई तथा ईमानदारी देखकर वे महानुभाव दंग रह गये और उन्होंने प्रसन्न होकर कहा—‘भाई ! तुम्हारे इस उपकारका कोई बदला नहीं हो सकता, पर ये रुपये तुम्हारे सामने हैं, तुम इनमेंसे चाहे जितने रुपये प्रसन्नतासे ले लो।’ चपरासीके अस्वीकार करनेपर उन्होंने पाँच सौ रुपये लेनेको कहा। चपरासी नहीं माना, तो उन्होंने डेढ़ सौ रुपये प्रतिमास उसके घर भेजनेका प्रस्ताव किया और नम्रताके साथ इसे स्वीकार करनेका अनुरोध किया। चपरासीने कहा—‘सेठजी ! मैं केवल यही चाहता हूँ कि भगवान् किसी भी समय किसी भी हेतुसे मुझे ईमानदारीसे जरा भी न डिगने दें। यही मेरे लिये सबसे बढ़कर इज्जत है और यही सबसे बढ़कर इनाम है।’

चपरासीके इस भावसे अत्यन्त प्रभावित होकर उन्होंने

कहा—‘भाई ! तुमपर भगवान् की बड़ी कृपा है। तुम धनमें गरीब हो तथा चपरासीका काम करते हो—इससे क्या हुआ ! तुम उन भिलावट-चोरी-ठगी आदिसे पैसे कमानेवाले बड़े-बड़े धनपतियों और लाखों रुपये घूस-रिश्वत या भेंटके रूपमें लेनेवाले छोटे-बड़े राज्य-अधिकारियोंसे लाखोंगुने अच्छे और ऊँचे हो।’

(६)

आदित्यहृदय-स्तोत्रका प्रत्यक्ष प्रभाव

घटना सन् १९६९ ई० की है। ग्राम सुखेड़ा, जिला रतलामके श्रीकन्हैयालालजी स्वर्णकारके पुत्र श्रीनागूलाल गत एक वर्षसे पारस्परिक वैमनस्यके कारण विपत्तिमें पड़े हुए थे। जिला रतलामके सेशन जजके द्वारा उन्हें कारावास तथा जुर्मानेकी सजा सुनायी जा चुकी थी। वे तथा उनके परिवारके सभी बन्धु-बान्धव बहुत दुखी थे।

अपीलके लिये बड़ी कठिनातासे जमानतपर छूटे। फिर मेरे पास आये तो मैंने उनको इस महान् संकटसे शीघ्र त्राण पानेके लिये वाल्मीकीयसामायणोक्त ‘आदित्यहृदय’ स्तोत्रके श्रद्धाभक्ति तथा विश्वासपूर्वक भगवान् श्रीसूर्यनारायणके सम्मुख एक सहस्र पाठ करनेकी सम्मति दी। उन्होंने सहर्ष स्वीकार करके भक्तिभावसे पाठ आरम्भ कर दिया। इन्दौर हाइकोर्टमें अपील की, इधर पाठ चालू रखला। भगवान् श्रीरामचन्द्रकी कृपासे दिनाङ्क १५।१०।६९ को उन्हें हाइकोर्टसे सर्वथा निर्दोष बताकर छोड़ दिया गया। स्तोत्रपाठका प्रत्यक्ष प्रभाव देखकर सब प्रसन्न हो गये। उनकी शासकीय स्थानपर पुनः नियुक्ति हो गयी। सारा भय निर्मूल हो गया।

इस प्रभावको देखकर बहुत-से महानुभावोंने ‘आदित्यहृदय’का नित्य पाठ करना शुरू कर दिया।

—पण्डित सिद्धनाथ शास्त्री, सुखेड़ा, रतलाम (म० प्र०)

राजस्थानमें गीताप्रेस-सेवा-दलका सहायता-कार्य

गीताप्रेस-सेवा-दलका अकाल-सहायता-केन्द्र वीकानेरमें अभी चालू है। राजस्थानमें कई जगह तो बहुत अच्छी वर्षा हुई है, पर वीकानेरमें कम हुई है। जहाँ दूरके स्थानोंमें वर्षा हुई है, वहाँके गौओंके मालिक अपनी गौओंको ले गये हैं। तथापि अभी लगभग १८०० गौएँ हैं, जिनकी नियमित सेवा हो रही है। भगवत्कृपासे यदि एक-दो बार अच्छी वर्षा और हो गयी तो अधिकांश गौओंको उनके मालिक ले जायेंगे। अतएव इस कार्यके लिये जो सज्जन सहायतार्थ धन भेजना चाहते थे, वे अभी कृपया न भेजें। अगले मासकी सूचना पढ़कर ही भेजनेका निश्चय करें। गोप्रेमी महानुभावोंने अवतक जो सहयोग दान किया है, उसके लिये गीताप्रेस-सेवा-दल उनका कृतज्ञ है।

रेशमी कपड़ा अपवित्र क्यों है ?

‘कल्याण’के मईके अङ्कमें ‘रेशमी कपड़ा न पहनने’के सम्बन्धमें लिखा गया था। इसपर कुछ पत्र आये हैं, जिनमें ‘रेशमी कपड़ा शास्त्रसम्मत है, फिर उसे क्यों नहीं पहनना चाहिये’—पूछा है। उत्तरमें हमें यह बताया गया है कि ‘पूर्वकालमें रेशमी कपड़ा सर्वथा अहिंसापूर्ण होता था, अतः वह पवित्र माना गया था। रेशमके कीड़े होते हैं, उस कालमें वे रेशम बनाकर कोएसे बाहर निकल जाते थे, तब उन कीड़ोंसे रहित कोएको उबालकर सूत निकाला जाता था—उसमें कीड़ा मरता नहीं था, पर वह सूत मोटा होता था तथा बहुत मजबूत एवं लंबा नहीं होता था। अब भी इस तरह कीड़ोंके निकलनेके बाद कहीं-कहीं कोए उबालकर रेशम निकाला जाता है, वह पवित्र है—उसे पहननेमें कोई आपत्ति नहीं है, जो लोग कीड़े निकल जानेके बाद अपने सामने कोए उबाले हुए रेशमके कपड़े पहनते हैं, वे पहनें। पर आजकल अधिकांशमें रेशमका सूत महीन हो, लंबा हो तथा मजबूत हो—इसलिये कीड़े रहते ही कोए उबाले जाते हैं—जिसमें वे कीड़े भी उबलकर बुरी तरह मर जाते हैं—इसलिये आजकलका यह रेशम अपवित्र तथा त्याज्य है। यह पता लगाना कठिन होता है कि कौन-सा रेशम पहले कोए उबालकर निकाला हुआ है और कौन-सा पीछे। अतएव प्राचीन कालमें रेशम हिंसारहित पवित्र होनेपर भी वर्तमानमें अधिकांशमें हिंसायुक्त होनेके कारण अपवित्र हैं। अतः त्याज्य हैं।’

भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा तथा दिव्य प्रेमकी प्राप्तिके लिये

(भगवान् शंकरके द्वारा कथित महत्त्वपूर्ण स्तोत्र)

आकार २०×३० स्यालह पेजी, पृष्ठ-संख्या १२, मूल्य १० पैसे, डाकबख्त १० पैसे।

भगवान् श्रीकृष्णकी प्रसन्नता तथा प्रेमकी सहज ही प्राप्तिके लिये महादेवी श्रीपार्वतीजीके पूछनेपर भगवान् श्रीशंकरने उन्हें एक ऐसा स्तोत्र बताया, जिसका नियम-संयम तथा श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करनेसे बिना जप, बिना सेवा तथा बिना ही पूजाके श्रीकृष्णकी कृपा तथा दुर्लभ प्रेमकी प्राप्ति हो सकती है। यह महत्त्वपूर्ण स्तोत्र ‘महेश्वरस्तोत्र’ के ४७ वें पटलका है।

प्रातः-सायं एवं मध्याह्न—दिनमें तीन बार पाठ करनेपर अनन्तगुना लाभ होता है। यह पाठ प्रतिदिन बिना लौंछा चलना चाहिये। रोग आदिके समय असमर्थ होनेपर किन्हीं सदाचारी ब्राह्मण अथवा घरके दूसरे किसी श्रद्धालु पुरुषके द्वारा कराया जा सकता है। तीव्र उत्कण्ठा तथा विश्वासके साथ, ब्रह्मचर्यका पालन और इन्द्रिय-संयम करते हुए इसका नियमित पाठ करनेसे भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा तथा उनके दिव्य प्रेमकी प्राप्ति होती है।

कल्याणका ‘अग्निपुराण-गर्गसंहिता-अङ्क’

यह विशेषाङ्क १,६५,००० छापा गया था, जिनमेंसे थोड़ी प्रतियाँ शेष हैं। इस विशेषाङ्कसहित वार्षिक मूल्य रु० १, सजिल्द अङ्कका मूल्य १०.५० है।

कल्याणके पुराने अङ्कोंमेंसे केवल निम्नलिखित अङ्क उपलब्ध हैं।

(१) ३७ वें वर्षका—संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्त-पुराणाङ्क पृष्ठ-संख्या ६८२, मूल्य	७.५०
(२) ४० वें वर्षका—धर्माङ्क पृष्ठ-संख्या ७००, मूल्य ७.५०, सजिल्द	८.७५
(३) ४१ वें वर्षका—श्रीरामवचनामृताङ्क पृष्ठ-संख्या ७०४, मूल्य ८.५०, सजिल्द	१०.००
(४) ४२ वें वर्षका—उपासनाङ्क पृष्ठ-संख्या ७००, मूल्य ९.००, सजिल्द	१०.५०
(५) ४३ वें वर्षका—परलोक और पुनर्जन्माङ्क पृष्ठ-संख्या ३९६, मूल्य सजिल्द	१०.५०

डाक-व्यय सबमें हमारा होगा।

व्यवस्थापक—‘कल्याण’, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

दिल्ली गोरक्षा-आन्दोलन

दिल्लीमें सम्पूर्ण गोवधबंदीके लिये गोवधनपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजीके नेतृत्वमें सर्वदलीय गोरक्षा अहोभियान समितिकी तरफसे गत ८ मईसे शान्तिपूर्वक सत्याग्रह चल रहा है। अभी पाँच सज्जन ही प्रतिदिन जाते हैं। अनन्तश्री खासी करपात्रीजी महाराजने कहा है कि "अगले दो मासतक आन्दोलनका स्वरूप व्यक्तिव सत्याग्रहके रूपमें रहेगा। इस बीच सरकार न मानी तो आन्दोलनका रूप और भी उग्र होगा।" देशभरके साधु-संन्यासी, मण्डलेश्वर, धर्माचार्य तथा विशिष्ट सज्जन गोहत्या-बंदीके लिये सब प्रकार बलिदान करनेको तैयार हैं। लोगोंमें बहुत उत्साह है। हमारा सरकारसे साग्रह अनुरोध है कि वह भारतकी इस न्यायसंगत माँगको मानकर सम्पूर्ण गोवंशकी हत्या-बंदीका कानून बना दे। यह न कोई राजनीतिक आन्दोलन है, न इसमें चुनावका कोई संदेश है। इसमें ऐसे बहुतसे लोग हैं, जिनका राजनीतिसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है। साथ ही देशवासियोंमें यह अनुरोध है कि वे इस पवित्र कार्यमें तन-मन-धनसे पूरा सहयोग दें।

हिंदू-सनातन-धर्मका स्वरूप

काम-क्रोध लोभ-मद-मत्सर-ईर्ष्या असत्-विषय-अभिलाष ।
 द्वेष-दम्भ हिंसा-असत्य—दोषोंका जिससे होता नाश ॥
 खान-पान-व्यवहार-आचरण सबमें रहती पूरी शुद्धि ।
 जीवन-लक्ष्य 'भोक्तृ'में रहती नित्य अविचलित निश्चय-बुद्धि ॥
 अभिनेताकी तरह निपुणता सहित नियत निज धर्माचार ।
 पालन होता श्रेय समझ, होता न ग्रहण पर-धन-विचार ॥
 त्याग-अहिंसा सेवा-परहित गुणप्रसूत खिलते अभिराम ।
 ईशाराधन-भजन नित्य होता अनुरागसहित निष्काम ॥
 होता शुभ स्व-कर्मसे भगवत्पूजन सहज सदा अविराम ।
 शान्ति-सुधा-सरिता लहराती प्लावित कर तटभूमि तमाम ॥
 आत्मामें सब जीव चराचर, सबमें नित्य आत्मा एक ।
 दिखता, होता नहीं दूर यह तनिक खूबद अनुभूत विवेक ॥
 सबमें दिखते ईश, दीखता ईश्वरमें सारा संसार ।
 उदय न हो पाता, रह पाता नहीं प्राकृतिक दोष-विकार ॥
 शुचि अनन्य ममता प्रभु-पदमें, बढ़ती सेवाकी दबि, बाव ।
 'हिंदू-धर्म-सनातन' का यह वाचन रूप शुद्धतम भाव ॥